पण्डितराजजगन्नाथ-प्रणीत

भामिनीविलास

का

प्रास्ताविक-अन्योक्तिविलास

"सुषमा-कुमुदिनी" संस्कृत-हिन्दी व्याख्या सहित

व्याख्याकार
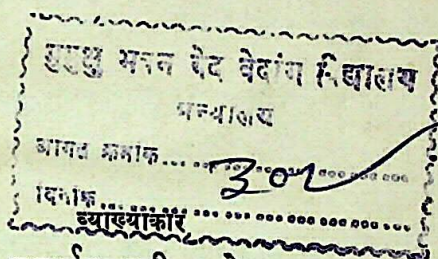
जनार्दनशास्त्री पाण्डेय

साहित्याचार्य, एम० ए०

अनुसन्धानसहायक—सरस्वतीभवन

वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय

विश्वविद्यालय प्रकाशन

वाराणसी

प्रकाशक
विश्वविद्यालय प्रकाशन
वाराणसी १

प्रथम संस्करण
१९६५
मूल्य : दो रुपये पचास पैसे

मुद्रक
विश्वनाथ भार्गव
मनोहर प्रेस
जतनवर, वाराणसी।

॥ श्रीः ॥

देवीं वाचमजनयन्त देवास्तां विश्वरूपा पशवो वदन्ति ।
सा नो मन्द्रेषमूर्जं दुहाना धेनुर्वागस्मानभिसुष्टुतैतु ॥

पण्डितराज जगन्नाथ

परिचय

प्राचीन भारतीय कवियों एवं शास्त्रकारोंका जीवन-वृत्त प्रायः अनुमानका ही विषय रहा है। पाश्चात्य स्थूलदर्शी आलोचकोंकी दृष्टिसे यह उनकी ऐतिहासिक दृष्टिका अभाव भलेही रहा हो किन्तु उन कवियों या शास्त्रकारोंने जीवनको ही महत्त्व प्रदान किया जीवनी-को नहीं। प्राचीन कालमें लिखे गये ग्रन्थोंपर टीकाएँ, टिप्पणियाँ, आलोचना, प्रत्यालोचना, खण्डन, मण्डन सभी कुछ हुआ, किन्तु किसी भी आलोचकने अपना समय यह खोजनेमें व्यर्थ नहीं गँवाया कि अमुक ग्रन्थकारने यह ग्रन्थ कब लिखा। उसने केवल यही देखा कि ग्रन्थकार-ने क्या लिखा और क्यों लिखा? यही परिपाटी भारतीय ग्रन्थकारोंकी रही है। जिस किसीने अपना परिचय दिया भी है तो अत्यन्त सूक्ष्म। पण्डितराज जगन्नाथ भी इसके अपवाद नहीं हैं। सौभाग्यसे वे इतिहास-प्रसिद्ध राजवंशोंसे संबद्ध रहे हैं और अपने पूर्ववर्ती सभी साहित्यकारोंकी प्रायः उन्होंने आलोचना की है, अतः उनके विषयमें कुछ जानकारी प्राप्त करनेके साधन औरोंकी अपेक्षा अधिक सुलभ हैं।

पण्डितराज आन्ध्रदेशीय तैलंग ब्राह्मण थे[1]। इनकी जाति वेल्लनाडु या वेलनाटीय थी। इनके पिताका नाम पेरुभट्ट या पेरमभट्ट और माताका नाम लक्ष्मी[2] था। इनका उपनाम "त्रिशूली" भी था[3]। इनके पिता पेरुभट्ट अद्वितीय विद्वान् थे, जिन्होंने ज्ञानेन्द्र भिक्षुसे वेदान्त, महेन्द्रसे न्याय-वैशेषिक, देवसे मीमांसा और शेष वीरेश्वरसे महाभाष्य (व्याकरण) का गहन अध्ययन किया था। इसके अतिरिक्त भी वे सभी विद्याओंमें प्रवीण थे।[4] पण्डितराजने अपने पितासे ही सर्वशास्त्रोंका अध्ययन किया था और पिताकी भाँति ही वे समग्र शास्त्रोंपर पूर्ण अधिकार रखते थे, जैसा कि उनके ग्रन्थोंसे ही प्रकट होता है। मुगल-सम्राट् शाहजहाँने इन्हें "पण्डितराज" की उपाधिसे अलंकृत किया था[5]। युवावस्थामें ही इनका प्रवेश मुगलदरबारमें हो गया था[6] और बहुत समय तक वहाँके शाही ऐश्वर्यका उपभोग इन्होंने किया।

---

१. "तैलङ्गान्वयमङ्गलालयमहालक्ष्मीदयालालितः"

(प्राणाभरण),

"तैलङ्गकुलावतंसेन पण्डितजगन्नाथेन—"

(आसफविलास)।

२. "श्रीमत्पेरमभट्टसूनुरनिशं" (प्रा०भ०) "तं वन्दे पेरुभट्टाख्यं लक्ष्मीकान्तं महागुरुम्" (रसगंगाधर)।

३. देखिये कुलपतिमिश्रका संग्रामसार १।४।

४. देखिये रसगंगाधरका प्रथम पद्य।

५. "सार्वभौमश्रीशाहजहाँप्रसादाधिगतपण्डितराजपदवीकेन .... जगन्नाथेन—" (आसफविलास)

६. "दिल्लीवल्लभपाणिपल्लवतले नीतं नवीनं वयः" (भामिनी विलास)।

स्थिति और कार्यकाल

रसगंगाधरके एक पद्यमें नूरदीन शब्द आया है[1]। इससे कुछ लोगोंने कल्पना की है कि पण्डितराजका प्रवेश मुगलदरबारमें अकबरके राज्यकालमें ही हो गया था। यह भी कहा जाता है कि जयपुर नरेश मिर्जा जयसिंह मुसलमान काजियोंको निरुत्तर करनेके लिये इन्हें जयपुर ले गये थे और उन्हींके द्वारा इनका मुगलदरबारमें प्रवेश हुआ था। यद्यपि यह माननेमें कोई विप्रतिपत्ति हमें नहीं कि पंडितराजका प्रादुर्भाव अकबरके राज्यकालमें (१६०५ ई० के अन्दर) ही हो गया था। किन्तु यह विश्वास नहीं होता कि अत्यन्त अल्पवयमें ही ये दरबारमें प्रवेश पा गये होंगे। श्री लक्ष्मण रामचन्द्र वैद्यने यह सिद्ध किया है कि नूरुद्दीनमुहम्मद जहाँगीरका नाम था और पंडितराज जहाँगीरके राज्यकालमें दरबारमें थे।

पण्डितराजने चार राजाओंका उल्लेख किया है जिनका समय इतिहासकारों द्वारा असन्दिग्धरूपमें निर्णीत है—नूरदीन (जहाँगीर १६०५से १६२७ ई.), शहाबदीन (शाहजहाँ १६२७से १६५७ई.), उदयपुरके राणा जगत्सिंह (१६२८से१६५९) और प्राणनारायण (भूटानके राजा १६३३ से १६५६ ई०)· इनके अतिरिक्त आसफविलासमें कश्मीर के नवाब आसफखानका (यह नूरजहाँका भाई था, इसकी मृत्यु १६४१ ई. में हुई) और एक स्फुट पद्यमें नेपालनरेशका भी उल्लेख है।[2]इससे यह तो

---

१. श्यामं यज्ञोपवीतं तव किमिति मषीसंगमात्कुत्र जातः
सोयं शीतांशुकन्यापयसि कथममूत्राज्जलं कज्जलाभम्।
व्याकुप्यन् नूरदीनक्षितिरमणरिपुक्षोणिभृत्पक्ष्मलाक्षी—
लक्षाक्षीणाश्रुधारासमुदितसरितां सर्वतः संगमेन॥

२. स्पृशति त्वयि यदि चापं स्वापं प्रापन् न केऽपि नरपालाः।
शोणे तु नयनकोणे को नेपालेन्द्र तव सुखं स्वपितु॥

निश्चित है कि १६०५ई. से १६५८ तक पंडितराजके पांडित्यकी यशः-पताका प्रौढ़रूपमें फहराई। इसके साथ ही यह भी विचारणीय है कि उस कालके दो दिग्गज विद्वानों—भट्टोजिदीक्षित और अप्पयदीक्षितका पंडितराजने जमकर खण्डन किया है। अप्पयदीक्षित १६५० ई० तक जीवित थे[1]। श्री विश्वेश्वर पाण्डेयजीने, जा कि पंडितराजके बाद अन्तिम प्रौढ़ आलंकारिक हुए हैं, अपने अलंकारकौस्तुभ नामक ग्रन्थमें पंडितराजके सिद्धान्तोंका प्रचुर समर्थन किया है। श्रीविश्वेश्वरजी सत्रहवीं शतीके उत्तरार्धमें हुए हैं। उनकी की हुई रसमंजरी टीकाकी एक प्रति, जो कि उनके पुत्र जयकृष्ण द्वारा लिखी गई है, शाके १६३० (१७०८ ई०) की उपलब्ध हुई है।

इन सब प्रमाणोंके आधारपर हम "पंडितराज-काव्यसंग्रह"के संपादककी इस उक्तिका समर्थन करते हैं कि पंडितराजका जन्म अनुमानतः १५९० ई०में हुआ, उनकी मृत्यु १६७० ई० के लगभग हुई और ८० वर्षकी दीर्घ आयुका उन्होंने उपभोग किया।

किंवदन्तियां

पण्डितराजके विषयमें कई किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं। एकके अनुसार जब ये काशीमें पढ़ते थे तभी जयपुर नरेश जयसिंह काशी आये। इनकी प्रखर बुद्धिसे वे अत्यन्त प्रभावित हुए और उन्होंने मुसलमान काजियोंके उन दो प्रश्नोंका उत्तर देनेके लिये इन्हें उपयुक्त समझा

---

१. १६५६ में काशीके मुक्तिमंडपमें सभा हुई जिसमें महाराष्ट्र देवर्षि (देवरुखे) ब्राह्मणोंको पंक्तिपावन सिद्ध किया गया और इस व्यवस्था पत्रपर अप्पयदीक्षितके हस्ताक्षर हैं, जो उस समय पंचद्राविड़ सभाके जातीय सरपंच थे।

(देखिये पिंपुटकरका "चितले भट्ट प्रकरण")

जिनका उत्तर न दे सकनेके कारण उन्हें सम्राट् अकबरके सामने नीचा देखना पड़ता था। वे दो प्रश्न थे—

१—जब परशुरामजीने २१ बार क्षत्रियोंका नाश करके पृथ्वीको निःक्षत्रिय कर दिया तब आपलोग (जयसिंहके वंशज आदि) अपनेको क्षत्रिय कैसे कहते हैं ?

२—अरबी भाषा संस्कृतसे प्राचीन है।

जयसिंह इन्हें अपने साथ जयपुर ले गये। वहाँ जाते ही इन्होंने पहले प्रश्नका उत्तर तो काजियोंको यह दिया कि निःक्षत्रिय होनेका अर्थ यदि यह हो कि एक भी क्षत्रिय नहीं बचा; तो २१ बार निःक्षत्रिय पृथ्वी कैसे हुई ? एक ही बारमें निःक्षत्रिय होनेपर दूसरीबार परशुरामने किसे मारा। यदि २० बार तक कुछ न कुछ क्षत्रिय बचते रहे तो २१ वीं बार भी कुछ अवश्य ही बच गये होंगे, जिनकी सन्तान इस समय वर्तमान हो सकती है।

दूसरे प्रश्नका उत्तर देनेके लिये इन्होंने समय चाहा और अरबी भाषा पढ़ी, उसके आधारपर उनके धर्मग्रन्थोंका अध्ययन करके इन्होंने काजियोंसे कहा कि तुम्हारे धर्मग्रन्थ 'हदीस'में लिखा है "हे मुसलमानो हिन्दू जो मानते हैं उसका उलटा तुम्हें मानना चाहिये।" इसके माने हुए कि तुम्हारे धर्मके प्रवर्तनसे पूर्व हिन्दू धर्म प्रचलित था। कोई भी धर्म बिना भाषाके नहीं होता और हिन्दूधर्मकी भाषा संस्कृतसे इतर नहीं सकती हो। जब हिन्दूधर्म इस्लामधर्मसे प्राचीन है तो संस्कृत भाषा भी अरबीसे प्राचीन है, यह मानना ही पड़ेगा।

इन उत्तरोंसे काजी निरुत्तर हो गये और प्रसन्न होकर राजा जयसिंहने जयपुरमें इनके लिये एक पाठशाला खोल दी और उन्होंने ही अकबरके दरबारमें इनका प्रवेश कराया।

दूसरी किंवदन्ती यह है कि जब ये शानशौकतके धनी सम्राट

शाहजहाँकी छत्रछायामें रहकर दिल्लीके विलासमय वातावरणमें रहते थे तव लवंगी नामकी किसी दिव्यरूपवती यवनकन्यासे इनका संसर्ग हो गया। इन्होंने उससे विवाह कर लिया। यौवनके उन्मादपूर्ण दिनोंको उसके साथ आनन्दपूर्वक विताकर वृद्धावस्थामें ये उसे लेकर काशी चले आये। यहाँ भट्टोजि और अप्पय दीक्षित आदि विद्वानोंने इन्हें म्लेच्छ कह कर जातिसे बहिष्कृत कर दिया। तव खिन्न होकर ये उसे साथ लेकर गंगाजी-की सीढ़ियोंपर वैठकर अपनी वनाई हुई गंगालहरीका पाठ करने लगे। इनके एक-एक श्लोकपर गंगाजी एक-एक सीढ़ी चढ़ती गईं और ५२ वें श्लोकमें इनके पास पहुँचकर उन्होंने इन्हें अपनी गोदमें समालिया।

तीसरी किंवदन्ती यह भी है कि लवङ्गी नामकी जिस युवती पर ये आसक्त थे, वह मर गई। उसके विरहमें व्याकुल होकर इन्होंने दिल्ली छोड़ दी और काशी चले आये। यहाँ पंडितोंने इनका तिरस्कार किया और अत्यन्त खिन्न होकर गंगाजीकी वाढ़में इन्होंने आत्मोत्सर्ग कर दिया।

चौथी किंवदन्ती यह भी है कि वृद्धावस्थामें जव ये यवनीको लेकर काशी आये तव एक दिन उसीके साथ गंगातटपर मुह ढाँपे सोये हुए थे और इनकी शिखा नीचे लटकी हुई थी। प्रातः काल अप्पय दीक्षित स्नान करने आये। एक वृद्धको इस प्रकार सोये देख उन्होंने कहा—किं निःशङ्कं शेषे शेषे वयसि त्वमागते मृत्यौ—अर्थात् थोड़ा जीवन शेष है, मृत्युसमीप आ गई है, तुम निःशङ्क होकर क्या सोये हो? उनके इन शब्दोंको सुनकर पंडितराजने मुँह खोला। पंडितराजको पहिचानते ही अप्पयने उस पद्यका उत्तरार्ध कह दिया—"अथवा सुखं शयीथाः निकटे जागर्ति जाह्नवी भवतः" अथवा सोओ आरामसे, पासमें ही तुम्हारे भगवती गंगां जाग रही है अर्थात् यों ही मुक्त हो जाअोगे।

इसी प्रकार कुछ और भी कथाएँ इनके विषयमें प्रचलित हैं, किन्तु हमारे विचारसे ये केवल दन्तकथाएँ ही हैं, इनमें सत्यांशका लेश नहीं

है। यवनी-संसर्गके विषयमें इनके कई श्लोक बहुत प्रसिद्ध हैं।[1] किन्तु ये श्लोक इनके ग्रन्थों या स्फुट रचनाओंमें कहीं भी नहीं पाये जाते अतः कोई पुष्ट प्रमाण नहीं है कि किसी यवनीसे इनका संपर्क था। रही भट्टोजि या अप्पय दीक्षित द्वारा म्लेच्छ कहकर इन्हें जातिसे बहिष्कृत करनेकी बात, सो तो कोई आश्चर्य नहीं। जातिवादके उस कट्टर युगमें, जबकि "न पठेद्यावनीं भाषां न गच्छेज्जैनमन्दिरम्" जैसे निषेधवाक्य प्रचलित थे, पण्डितराजके अनुपम ऐश्वर्य और बुद्धि-वैभवसे जलते हुए महाराष्ट्र ब्राह्मणोंने निरन्तर मुगलदरबारके संपर्कमें रहनेके कारण उन्हें म्लेच्छ कहकर बहिष्कृत कर दिया हो तो कोई असंभव नहीं!

स्वभाव और अन्तिम वय

पण्डितराज अत्यन्त स्वाभिमानी, निर्भीक और महान् व्यक्तिके भी दोषोंका उद्घाटन कर देनेवाले व्यक्ति हैं। अपने पाण्डित्य और कवित्वके सामने वे किसीको कुछ नहीं समझते। वे स्पष्ट कहते हैं कि वाणियोंका आचार्य होनेकी क्षमता मेरे अतिरिक्त किसीमें है ही नहीं।[2] रसगंगाधरमें वे कहते हैं कि मैंने सारे उदाहरण नये स्वयं बनाकर रखे हैं, क्योंकि कस्तूरीको उत्पन्न करनेकी

---

१. न याचे गजालिं न वा वाजिराजिं न वित्तेषु चित्तं मदीयं कदाचित्।
इयं सुस्तनी मस्तकन्यस्तहस्ता लवङ्गी कुरङ्गीदृगङ्गीकरोतु॥
यवनी नवनीतकोमलाङ्गी शयनीये यदि नीयते कदाचित्।
अवनीतलमेव साधु मन्ये न वनी माघवनी विनोदहेतुः॥
यवनी रमणी विपदः शमनी कमनीयतमा नवनीतसमा।
उहि-ऊहि वचोऽमृतपूर्णमुखी स सुखी जगतीह यदङ्कगता॥

२. आमूलाद्रत्नसानोर्मलयवलयितादा च कूलात्पयोधेः
यावन्तः सन्ति काव्यप्रणयनपटवस्ते विशङ्कं वदन्तु।

क्षमतावाला मृग कहीं साधारण पुष्पोंकी गन्ध सहन कर सकता है ?[१] यही नहीं भामिनीविलासका सारा प्रास्ताविक विलास पंडितराजकी दर्पोक्तियोंसे भरा हुआ है। भट्टोजिदीक्षित एवं अप्पयदीक्षितके लिये तो इन्होंने कहीं कहीं शिष्टाचारकी सीमा भी लांघ डाली है। इन दोनों मूर्द्धन्य विद्वानोंके ग्रन्थोंका प्रबल खण्डन करनेसे ही इन्हें शान्ति नहीं मिली, स्थान स्थानपर 'गुरुद्रोही' और 'रुय्यकके पीछे आंख मूँदकर चलनेवाला' आदि विशेषण इन्होंने दे डाले हैं। दिल्लीश्वरकी छत्रछायामें जिस असीम ऐश्वर्यका इन्होंने उपभोग किया है उसके सामने दूसरे राजाओं द्वारा दिया हुआ सम्मान इन्हें कुछ भी प्रतीत नहीं होता।[२] मम्मट तथा

मृद्वीकामध्यनिर्यन्मसृणरसझरी माधुरीभाग्यभाजां
वाचामाचार्यतायाः पदमनुभवितुं कोऽस्ति धन्यो मदन्यः ॥

(शान्तविलास २६)

तथा

दिगन्ते श्रूयन्ते मदमलिनगण्डाः करटिनः
करिण्यः कारुण्यास्पदमसमशीलाः खलुः मृगाः ।
इदानीं लोकेस्मिन्ननुपमशिखानां पुनरयं
नखानां पाण्डित्यं प्रकटयतु कस्मिन्मृगपतिः ।

(प्रास्ता० वि० १)

१. निर्माय नूतनमुदाहरणानुरूपं
काव्यं मयात्र निहितं न परस्य किंचित् ।
किं सेव्यते सुमनसां मनसापि गन्धः
कस्तूरिकाजननशक्तिभृता मृगेण ॥

(रसगंगाधर ११३)

२. दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो वा मनोरथान् पूरयितुं समर्थः ।
अन्यैर्नृपालैः परिदीयमानं शाकाय वा स्यात् लवणाय वा स्यात् ॥

आनन्दवर्धनाचार्य, जिनको कि ये अत्यन्त सम्मानकी दृष्टिसे देखते हैं, उनके मतोंकी भी यथासमय आलोचना करनेमें ये चूके नहीं हैं। पाण्डित्य और विवेचनकी दृष्टिसे इनकी गर्वोक्ति सर्वांशमें मिथ्या नहीं है और इस विषयमें ये भवभूतिसे बहुत आगे बढ़े हुए हैं। कहीं कहीं तो इनकी यह गर्वोक्ति औद्धत्यसी प्रतीत होती है। भट्टोजिदीक्षितकी प्रौढ़मनोरमाका खण्डनकर इन्होंने उसका नाम रक्खा है "मनोरमा-कुचमर्दन"। भामिनीविलासके अन्तमें ये कहते हैं—दुष्ट रंडापुत्र मेरे पद्योंको चुरा न लें, इस शंकासे मैंने यह मंजूषा (पेटी) पद्योंकी बना डाली है।[1]

पण्डितराजकी अन्तिम अवस्था सुखमय नहीं प्रतीत होती। ऐसा प्रतीत होता है कि जहाँगीरके राज्यकालमें मुगलदरबारमें इनका प्रवेश हुआ किन्तु ये वहाँ स्थायी नहीं हो पाये और जहाँगीरकी मृत्युके उपरान्त ही ये उदयपुरके राणा जगत्सिंहके दरबारमें रहने लगे जहाँ इन्होंने जगदाभरणकी रचना की। जब शाहजहाँ सिंहासनारूढ़ हुआ तो उसने इन्हें फिर दिल्ली बुला लिया। शाहजहाँका राज्यकाल पण्डितराजका भी अत्यन्त अभ्युदय और ऐश्वर्यका काल रहा। शाहजहाँकी मृत्युके पूर्व ही ये पुनः दिल्ली छोड़कर कामरूपेश्वर प्राणनारायणके यहाँ चले गये। कहते हैं कि शाहजहाँके ज्येष्ठपुत्र दारासे इनकी अत्यन्त घनिष्ठता थी। क्योंकि दारा संस्कृत भाषा, हिन्दूधर्म तथा वेदान्त दर्शन पर अत्यन्त आस्था रखता था। संभव है कि दाराकी इस हिन्दूपरकताका कारण पण्डितराजको समझा गया हो और कट्टर मुल्लाओंके प्रपंचोंके कारण उन्हें दिल्ली छोड़नी पड़ी हो। सम्राट्की छत्रछायामें अपार वैभवका उपभोग करते हुए विलक्षण प्रतिभाशाली पण्डितराजसे तत्कालीन पण्डित द्वेष करते थे अतः म्लेच्छ-संसर्गमें रहनेके कारण पण्डितोंने इनका तिर-

---

१. दुर्वृत्ता जारजन्मानो हरिष्यन्तीति शंकया
मदीयपद्यरत्नानां मञ्जूषैषा मया कृता ॥ (भामिनी०)

स्कार किया। प्राणनारायणके यहाँ भी ये अधिक दिन नहीं रहे और अपना अन्तिम समय इन्होंने मथुरा तथा काशीमें व्यतीत किया। ऐसा प्रतीत होता है कि यौवनमें अपार वैभव-सम्पन्नताका उपभोग करनेवाले पण्डितराज वृद्धावस्थामें उस संपत्तिका अभाव, पत्नी वियोग और पण्डितों द्वारा तिरस्कारसे ऊबसे गये।[1] अतः अन्तिम जीवनका इनका सुखमय नहीं रहा।

धार्मिक सिद्धांत

पण्डितराज शांकर वेदान्तके कट्टर अनुयायी हैं। भगवान् श्रीकृष्ण एवं गङ्गाके परमभक्त होते हुए भी ये अन्धे वैष्णव नहीं हैं। दूसरे देवताओंकी स्तुति भी उसी भक्तिके साथ करते हैं, किन्तु कृष्णपर इनकी अत्यधिक आस्था है[2]। यद्यपि इन्होंने भक्तिको पृथक् रस रूपसे स्वीकार नहीं

---

१. शास्त्राण्याकलितानि नित्यविधयः सर्वेऽपि सम्भाविता:
दिल्लीवल्लभपाणिपल्लवतले नीतं नवीनं वयः।
सम्प्रत्युज्झितवासनं मधुपुरीमध्ये हरिः सेव्यते
सर्वं पण्डितराजराजितिलकेनाकारि लोकाधिकम्॥
(शान्त वि० ४५)

२. मृद्वीका रसिता सिता समशिता स्फीतं निपीतं पयः
स्वर्यातेन सुधाप्यधायि कतिधा रम्भाधरः खण्डितः।
तत्त्वं ब्रूहि मदीयजीव भवता भूयो भवे भ्राम्यता
कृष्णेत्यक्षरयोरयं मधुरिमोद्‌गारः क्वचिल्लक्षितः॥
(शान्त वि०)

पायं पायमपायहारि जननि स्वादु त्वदीयं पयो
नायं नायमनायनीमकृतिनां मूर्तिं दृशोः कैशवीम्।
स्मारं स्मारमपारपुण्यविभवं कृष्णेतिवर्णद्वयम्
चारं चारमितस्ततस्तवतटे मुक्तो भवेयं कदा॥
(रसगंगाधरमें भावका उदाहरण)

किया है फिर भी श्रीमधुसूदन सरस्वतीके भक्ति-विषयक सिद्धान्तको ये आदरकी दृष्टिसे देखते हैं। श्रीमद्भागवत तथा वेदव्यासपर इनकी अत्यन्त श्रद्धा है[1]। इसी भक्तिके कारण ही ये जीवनके अन्तिम दिनोंमें मथुरामें रहते थे[2]।

संस्कृत साहित्यको पण्डितराजकी देन

हम पहिले कह चुके हैं कि साहित्यशास्त्रके विकासकी दृष्टिसे पण्डितराज अन्तिम आलंकारिक हैं और उनका रसगंगाधर इस विषयका अन्तिम ग्रन्थ। अपने पूर्ववर्ती साहित्यविवेचकों—अग्निपुराण, दण्डी, रुद्रट, वामन, आनन्दवर्धन, भोज, मम्मट, वाग्भट्ट, जयदेव, विश्वनाथ-की पाण्डित्यपूर्ण आलोचना करते हुए पण्डितराजने साहित्यशास्त्रको एक नया मोड़ दिया है। "रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्" यह काव्यकी परिभाषा करके उन्होंने बहुत अंशमें अभिनवगुप्तका अनुगमन किया है, किन्तु आँख मूँदकर किसीके पीछे-पीछे चलना उनके स्वभावके अत्यन्त विपरीत है। प्रत्येक बातमें उनका अपना वैलक्षण्य अवश्य

तरणोपायमपश्यन्नपि मामक जीव ताम्यसि कुतस्त्वम्।
चेतःसरणावस्यां किं नागन्ता कदापि नन्दसुतः॥
(शान्त वि० १७)

सन्तापयामि किमहं धावं धावं धरातले हृदयम्।
अस्ति मम शिरसि सततं नन्दकुमारः प्रभुः परमः
(शान्त वि० २०)

१. ऋतुराजं भ्रमरहितं यदाहमाकर्णयामि नियमेन।
आरोहति स्मृतिपथं तदैव भगवान् मुनिर्व्यासः॥
(रसगंगाधरमें स्मरणालंकारका उदाहरण)

२. "संप्रत्युज्झितवासनं मधुपुरीमध्ये हरिः सेव्यते"
(शान्त वि० ४५)

रहता है। मम्मटके वाद काव्यशास्त्रके नवीकरणका प्रयास इन्होंने ही किया है और इसमें ये पूर्ण सफल हुए हैं। जिसे रसगंगाधरके प्रारम्भमें ही ये स्वयं व्यक्त करते हैं—

निमग्नेन क्लेशैर्मननजलधेरन्तरुदरं
मयोन्नीतो लोके ललित रसगङ्गाधरमणिः।
हरन्नन्तर्ध्वान्तं हृदयमधिरूढो गुणवता—
मलङ्कारान् सर्वानपि गलितगर्वान् रचयतु॥

रसगंगाधरका पाठक यह अनुभव करता है कि पण्डितराजकी यह उक्ति पूर्णतः यथार्थ है। वे विलक्षण प्रतिभाशाली विद्वान् होनेके साथ ही अत्यन्त शक्तिसम्पन्न सरस-हृदय कवि भी हैं। नैयायिकोंकी परिष्कृत शैलीमें किसी भी विषयका पाण्डित्यपूर्ण विवेचन करनेके वाद वे तदनुरूप ही उदाहरण बनाकर प्रस्तुत कर देते हैं। जिससे आलोचकोंको किसी प्रकार भी उसमें न्यूनता दर्शानेका अवसर नहीं मिलता। काव्यके लक्षणसे लेकर सभी विभागोंका उन्होंने नवीकरण किया है। समयकी गतिके साथ साहित्यशास्त्रके नियमोंमें भी परिवर्तन आवश्यक है, इस सिद्धान्तको पण्डितराजने अच्छी तरह समझा है। मम्मटने रसविषयक चार सिद्धान्तोंका उल्लेख किया था, पण्डितराजने ग्यारह सिद्धान्तोंका विवेचन करनेके वाद "रत्याद्यवच्छिन्ना भग्नावरणा चिदेव रसः" कहकर रस-मीमांसाको जो देन दी है वह अनुपम है। गुणविचार एवं भावध्वनि विमर्श भी उनका अत्यन्त सूक्ष्म और मर्मग्राही है। जहाँ रसभावादिको पूर्ववर्ती आचार्योंने केवल असंलक्ष्यक्रम माना था वहाँ इन्होंने मार्मिक शैलीसे स्पष्ट कर दिया कि ये संलक्ष्यक्रम भी होते हैं।

पदरचना एवं पदव्यञ्जकतामें वे स्वयं जितने निपुण हैं उतनी ही निपुणतासे दूसरे कवियोंकी रचनाओंका परीक्षण और उनका सुधार भी कर सकते हैं। अपने समयके एकछत्र कविसम्राट् श्रीहर्षकी रचना

"नैषधीय चरित"को "क्रमेलकवत् विसंष्ठुलं" (ऊँटकी तरह बेढंगा) कहनेका साहस पण्डितराजको ही हो सकता है। वे नैषधके "उपासना-मेत्य पितुः स्म रज्यते—" इस पद्यको दोषवर्जित करके सुधारकर जब रसगंगाधरमें पढ़ते हैं तब उनका कथन अयथार्थ नहीं प्रतीत होता।

श्रीमधुसूदन सरस्वती पण्डितराजके कुछ ही पूर्ववर्ती हैं। उनका भक्तिरस विषयक सिद्धान्त भी पण्डितराजकी आँखोंसे ओझल नहीं है। इसके स्वतंत्र विवेचनका निर्देशभी उन्होंने किया है और भगवद्भक्तोंके भावको भी वे अच्छी प्रकार समझे हैं। किन्तु फिर भी उन्हें भक्तिका रसत्व इसलिये स्वीकार नहीं है कि भरतकी की हुई व्यवस्था आकुलित हो जायगी।

किसी भी प्राचीन आलंकारिक सिद्धान्तकी ये अवहेलना नहीं करते। पाडित्यपूर्ण शैलीमें उसपर विवेचना करते हैं और तब अपना मत अभि-व्यक्त करते हैं। इनकी भाषा प्रसन्न एवं ओजस्विनी है। गुण-दोष विवेचनमें सूक्ष्मसे सूक्ष्म तत्त्वपर भी इनकी दृष्टि पहुँचती है। एक स्वतंत्र विवेचक होते हुए भी ये मम्मट तथा आनन्दवर्धनके मतको पुष्ट करते हैं। जहाँ उनकी भी आलोचनाका प्रसंग आया है वहाँपर चूके नहीं हैं, किन्तु संयत और शिष्ट भाषामें "आनन्दवर्धनाचार्यास्तु ·········तच्चिन्त्यम्" कहकर खुलकर अपने भावोंको व्यक्त किये हैं। इनकी यह शिष्टता और संयम केवल अप्पयदीक्षित और भट्टोजिदीक्षितके लिये सीमाका उल्लंघन कर जाता है।

यह निःसंकोच कहा जासकता है कि पण्डितराजकी गद्य-पद्यमें उत्पादिका प्रतिभा विलक्षण है, सौन्दर्यांकनकी शक्ति प्रचुर है, सूक्ष्मेक्षिका-के ये अत्यन्त धनी हैं। संस्कृतसाहित्यमें अपनी जोड़के ये स्वयं हैं यह अतिशयोक्ति नहीं।

पण्डितराज और हिन्दी वाङ्मय

पण्डितराजका स्थितिकाल वह काल था जवकि संस्कृत साहित्यके ललित अंशोंको लेकर समृद्ध व्रजभाषा पूर्ण उत्कर्षको प्राप्त हो चुकी थी। सूर, तुलसी और विहारी जैसे उच्चकोटिके कवियों द्वारा हिन्दीका पर्याप्त विकास हो चुका था। दरवारसे संवद्ध होनेके कारण उनका हिन्दी कवियों से भी संपर्क असम्भव नहीं था। हमें यह कहनेमें तनिक भी संकोच नहीं कि हिन्दी कवियोंका विशेषकर विहारीका प्रभाव उनपर अवश्य पड़ा, पण्डितराजके कई पद्योंको हम विहारीके हिन्दी पद्योंकी अविकल छाया कह सकते हैं[1]।

इसीप्रकार अनुप्रासका प्रयोग संस्कृत साहित्यमें वहुत प्राचीनकालसे चला ही आरहा था, किन्तु पण्डितराजकी कवितामें पदान्तानुप्रासकी जो छटा है वह उस समय की व्रजभाषाकी कवितासे अत्यन्त मिलती है[2]।

---

१. छिप्यो छवीलो मुँह लसै नीले आँचल चीर।
मनों कलानिधि झलमलै कालिन्दीके नीर॥ (विहारी)
नीलाञ्चलेन संवृतमाननमाभाति हरिणनयनायाः।
प्रतिविम्बित इव यमुनागभीरनीरान्तरेणाङ्कः॥ (पण्डितराज)
अमी हलाहल मदभरे श्वेत श्याम रतनार।
जियत मुवत झुकि झुकि परत जेहि चितवत इकवार॥
श्यामं सितं च सुदृशो न दृशोः स्वरूपं
किन्तु स्फुटं गरलमेतदथामृतं च।
नो चेत् कथं निपतनादनयोस्तदैव
मोहं मुदं च नितरां दधते युवानः॥ (पण्डितराज)

२. सा मदागमनबृंहिततोषा जागरेण गमिताखिलदोषा।
× × ×

यह अवश्य है कि पण्डितराजने अपनी प्रखर विद्वत्ता एवं विलक्षण प्रतिभाके चमत्कारसे उसे परिपक्व रूप देदिया है।

मुगलकालके विलासी जीवनकी झलक भी पण्डितराजकी कविताओंमें यत्र-तत्र मिल जाती है। यह प्रसिद्ध है कि कबूतरबाजीका प्रारम्भ भारतमें मुगलोंसे ही प्रारम्भ हुआ था। इसीको रसगंगाधरमें लज्जाभावकी ध्वनिमें पण्डितराजने दर्शाया है—

निरुद्ध्य यान्तीं तरसा कपोतीं कूजत्कपोतस्य पुरो ददाने।
मयि स्मितार्द्रं वदनारविन्दं सा मन्दमन्दं नमयाम्बभूव॥

इसी प्रकार रसाभासके उदाहरणमें—

भवनं करुणावती विशन्ती गमनाज्ञालवलाभलालसेषु।
तरुणेषु विलोचनाब्जमालामथ बाला पथि पातयाम्बभूव॥

"एक अत्यन्त रूपवती युवती जारही थी। कुछ मनचले उसके पीछे लग गये। बहुत दूर तक पीछा करनेपर भी, सिवा थोड़ी सी नेत्रतृप्तिके, उन्हें कुछ हाथ न लगा। इतनेमें उसका घर आगया और वह भवनमें प्रवेश करने लगी। युवक सहसा ठिठककर खड़े हो गए कि यह हमें जानेको भी कह देती तो हम कृतार्थ हो जाते? उनकी इस दशापर युवतीको करुणा हो आई और वह रास्तेकी ओर एक नजर मारकर मुसकराती हुई भीतर चली गई।"

वे एक पूरा दृश्य ही चित्रित कर देते हैं।

तीरे तरुण्या वदनं सहासं नीरे सरोजं च मिलद्विकासम्॥

× × ×

वीक्ष्य वक्षसि विपक्षकामिनी हारलक्ष्म दयितस्य भामिनी।

× × ×

विनये नयनारुणप्रसाराः प्रणतौ हन्त निरन्तराश्रुधाराः॥ (आदि)

पण्डितराजकी रचनाएँ

१—पीयूषलहरी—यह गंगालहरी नामसे प्रसिद्ध और अत्यन्त प्रचलित एवं लोकप्रिय गंगास्तुति है, जिसमें ५२ पद्य हैं।

२—अमृतलहरी—इसमें ११ पद्योंमें यमुनाजीकी स्तुति है।

३—सुधालहरी—इसमें ३० पद्योंमें सूर्यकी स्तुति है।

४—लक्ष्मीलहरी—४१ पद्योंमें लक्ष्मीजोकी स्तुति है।

५—करुणालहरी—५५ पद्योंमें भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुति है।

६—आसफविलास—इसमें कश्मीरके नवाव आसफ खाँका वर्णन है। प्रारम्भमें ४ पद्य हैं और शेष गद्यांश है।

७—प्राणाभरण—इसमें ५३ पद्य हैं जिनमें कामरूपनरेश प्राणनारायणका वर्णन है।

८—जगदाभरण—काव्यमाला सीरीजके संपादक पं० दुर्गाप्रसादजी का कथन है कि "प्राणाभरणमें ही जहाँ-जहाँ प्राणनारायणका नाम है वहाँ पर दाराशिकोहका नाम देकर पंडितराजने जगदाभरण नाम इस ग्रन्थका रख दिया है। और यह पुस्तक कोटाके राज-पण्डित गङ्गावल्लभजीके पास देखी थी।" किन्तु "पण्डितराज काव्यसंग्रह" में प्रकाशित उक्त ग्रन्थ तथा स्व० एस० एम० परांजपेके उद्धरणसे यह निश्चित है कि प्राणनारायणके स्थानपर उदयपुरके राणाजगत्सिहका नाम है दाराका नहीं। जैसाकि जगदाभरण नामसे भी प्रतीत होता है।

९—यमुनावर्णन—इस ग्रन्थके केवल दो अंशोंका उद्धरण रसगंगाधरमें पण्डितराजने ही दिया है, शेष अंश अभी तक उपलब्ध न हो सका।

१०—रसगङ्गाधर—साहित्यमीमांसापर उच्चकोटिका ग्रन्थ है। जिसे संभवतः ५ आननोंमें पूर्ण करनेका कविका विचार था किन्तु द्वितीय आननमें भी उत्तरालंकार तक ही ग्रन्थ अभी तक उपलब्ध हो सका है। यह विशुद्ध नैयायिक शैलीमें लिखा गया गद्य ग्रन्थ है। केवल उदाहरणरूपमें पण्डितराजने स्वरचित पद्य ही दिये हैं। जिनमेंसे अधिकांश उनके अन्य ग्रन्थोंमें पाये जाते हैं। ३३२ पद्य प्रायः ऐसे हैं जो अन्यत्र नहीं मिलते।

११—भामिनी विलास—चार विलासोंमें विभक्त इस ग्रन्थका विवरण आगे दिया जा रहा है।

१२—स्फुटपद्य—पण्डितराजके लगभग ५८८ स्फुट पद्य हैं। [रसगंगाधर-के गद्य भागको छोड़कर शेष उपर्युक्त सभी ग्रन्थ "संस्कृतपरिषद्, उसमानिया विश्वविद्यालय हैदराबाद"से "पण्डितराज काव्य-संग्रह" नामसे प्रकाशित हो चुके हैं। इससे पूर्व भी काव्यमाला सीरीजमें तब तक उपलब्ध ग्रन्थांश प्रकाशित हो चुके थे।]

१३—मनोरमाकुचमर्दन—भट्टोजिदीक्षितकी प्रौढ़मनोरमापर आलोच-नात्मक टीका है जो निर्णय सागर प्रेससे प्रकाशित है।

१४—चित्रमीमांसाखण्डन—अप्पयदीक्षितके प्रसिद्ध अलंकार ग्रन्थ चित्रमीमांसाका पाण्डित्यपूर्ण खण्डन है। स्थान-स्थानपर रस-गंगाधरमें पण्डितराजने अप्पयदीक्षितके मतका जो खण्डन किया है उसीको इसमें संकलित कर दिया है। यह भी काव्यमाला सीरीजसे प्रकाशित हो चुका है।

१५—शब्दकौस्तुभशाणोत्तेजन—यह ग्रन्थ हमारे देखनेमें अभी तक नहीं आया है "पण्डितराज काव्य संग्रह" की भूमिकामें इसका नाम दिया गया है। भट्टोजिदीक्षित शब्दकौस्तुभके रचयिता हैं

और पण्डितराजने भट्टोजि और अप्पय दीक्षितका जी भर कर खण्डन किया है। मनोरमा कुचमर्दनमें वे लिखते हैं—

"इत्थं च 'ओत्' सूत्रगतः कौस्तुभग्रन्थः सर्वोऽप्यसंगत इति ध्येयम्। अधिकं कौस्तुभखण्डनादवसेयम्"

इस उद्धरणसे यह निश्चित है कि उन्होंने शब्दकौस्तुभके खण्डनपर अवश्य कोई ग्रन्थ लिखा था।

अन्य जगन्नाथ[1]

पण्डितराजके अतिरिक्त जगन्नाथ नामके निम्नलिखित अन्य ग्रन्थकार भी संस्कृत साहित्यमें उपलब्ध होते हैं—

१—अश्वधाटी, रतिमन्मथ तथा वसुमतीपरिणयके रचयिता तंजौरनिवासी जगन्नाथ।

२—रेखागणित, सिद्धान्त सम्राट् तथा सिद्धान्त कौस्तुभके रचयिता जयपुर निवासी सम्राट् जगन्नाथ[2]।

३—विवादभङ्गार्णव के रचयिता जगन्नाथ तर्कपञ्चानन।

४—अतन्त्रचन्द्रिक नाटक प्रणेता मैथिल जगन्नाथ।

५—अनङ्गविजय भाणके रचयिता जगन्नाथ (श्रीनिवासके पुत्र)।

६—सभातरङ्गके रचयिता जगन्नाथमिश्र (हमारे विचारसे यह मैथिल जगन्नाथ ही हैं)।

७—अद्वैतामृतके रचयिता जगन्नाथ सरस्वती।

---

१. काव्य माला सीरीजमें प्रकाशित रसगंगाधरकी भूमिकासे साभार उद्धृत।

२. इनके ग्रन्थोंपर वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालयके उपग्रन्थाध्यक्ष श्रीविभूतिभूषण भट्टाचार्यजीके निर्देशनमें श्रीमुरलीधर चतुर्वेदीने स्तुत्य अनुसन्धान कार्य किया है।

८—समुदायप्रकरणके रचयिता जगन्नाथ सूरी।
९—शरभगजविलासके रचयिता जगन्नाथ पण्डित।
१०—ज्ञानविलास के रचयिता जगन्नाथ (नारायणदैवज्ञके पुत्र)।
११—अनुभोगकल्पतरुके प्रणेता जगन्नाथ।
१२—शशिसेना नामक मराठी काव्यके रचयिता जगन्नाथ।

—:o:—

भामिनीविलास

कवि और काव्य

"कवेः कर्म काव्यं" व्याकरणके अनुसार यही काव्य शब्दकी व्युत्पत्ति है अर्थात् कविका कार्य ही काव्य है। "कवते इति कविः" अर्थात् किसी विषयका प्रतिपादन करनेवाला कवि कहलाता है। कोषकारोंने भी इसे इसीलिये पण्डितका पर्याय माना है—संख्यावान् पण्डितः कविः—अमरकोष। प्रारम्भसे कवि शब्द इसी अर्थमें प्रयुक्त होता रहा और यही कवि जो कुछ भी प्रतिपादन कर देता रहा वह काव्य कहलाया, जैसाकि अग्निपुराणमें काव्यका लक्षण किया गया है—"संक्षेपाद्वाक्यमिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली काव्यम्" (जो कुछ हम कहना चाहते हैं उसे संक्षेपमें जिन पदोंसे कह सकें वे ही पद काव्य हैं) परन्तु ज्यों-ज्यों साहित्यशास्त्रका विकास होता गया त्यों-त्यों कवि शब्दकी परिभाषा भी परिष्कृत होती गई। किसी विषयका सौन्दर्यपूर्ण वर्णन करनेवाला ही कवि कहा जाने लगा। यही कारण है कि केवल १०० श्लोकोंके रचयिता अमरु महाकवि कहे जाते हैं और हजारों श्लोकोंके रचयिता मनु, याज्ञवल्क्य या पराशरको कोई कवि नहीं कहता। आज हम कविकी परिभाषा इस प्रकार कर सकते हैं—जीवनकी विखरी अनुभूतियोंको अपने अगाध ज्ञान और विलक्षण प्रतिभाद्वारा समेटकर शब्द और अर्थके माध्यमसे कलापूर्ण ढंगसे प्रकट कर देनेवाला कवि

है, और उसकी वह कृति ही काव्य है। जो कवि अनुभूतियोंकी जितनी अधिक गहराई तक पहुँचता है और जिसकी वर्णनामें जितनी अधिक स्वाभाविकता होती है वह उतना ही अधिक पाठकके हृदयमें अपना स्थान बना लेता है।

मुक्तक-काव्य

काव्यके दो प्रकार हो सकते हैं गद्य और पद्य। गद्यकी अपेक्षा पद्य काव्य अधिक रुचिकर और प्रभावक होता है क्योंकि कलात्मकता लानेमें छन्द अत्यन्त उपयोगी होते हैं। संस्कृत साहित्य अत्यन्त मर्यादापूर्ण साहित्य है। इसमें प्रत्येक परिस्थितिके लिये कुछ न कुछ मर्यादा अवश्य बनी हुई है। उससे बाहर संस्कृतका कवि जा ही नहीं सकता। वह निरंकुश हो सकता है किन्तु उस निरंकुशताकी भी सीमा है। काव्यके सौन्दर्यमें वृद्धिके हेतु वह उसी सीमातक जाता है। इस सीमाके अन्तर्गत काव्यके जितने भेद हो सकते हैं उनमें मुक्तक भी एक है।

मुक्तकका स्वरूप हमें सर्वप्रथम अग्निपुराणमें मिलता है—

"मुक्तकं श्लोक एकैकश्चमत्कारक्षमं सताम्।"

अर्थात् मुक्तक वह काव्य है जिसमें एक एक श्लोक स्वतंत्र रूपसे अपने अर्थप्रकाशनमें पूर्ण समर्थ होकर सहृदयोंके हृदयमें चमत्कारका आधायक हो। अग्निपुराणके अनन्तर भी प्रायः सभी काव्यशास्त्र-प्रतिपादकोंने इसका यही रूप स्वीकर किया है। ध्वन्यालोककार आनंदवर्धनके—"मुक्तकेषु प्रवन्धेष्विव रसवन्धाभिनिवेशिनः कवयो दृश्यन्ते" इस अंशकी व्याख्या करते हुए 'लोचन'-कार श्री अभिनवगुप्त कहते हैं—

"मुक्तमन्येनालिङ्गितम्। तस्य संज्ञायां कन्। तेन स्वतंत्रतया परिसमाप्तनिराकांक्षार्थमपि प्रवन्धमध्यवर्ती मुक्तकमित्युच्यते।"

किन्तु इसमें यह सन्देह रह जाता है कि मुक्तक प्रवन्धमध्यवर्ती कोई

पूर्वापर निरपेक्ष पद ही हो सकता है या अन्य भी ? इसे वे आगे चलकर स्पष्ट कर देते हैं—

"पूर्वापरनिरपेक्षेणापि हि येन रसचर्वणा क्रियते तदेव मुक्तकम्" अर्थात् पूर्वापर प्रसंगकी अपेक्षा किये विना जो पद्य अकेला ही रसचर्वणा करा सकता है वह मुक्तक है।

प्रस्तुत ग्रन्थ भामिनीविलास मुक्तक-काव्य ही है।

"निर्माय नूतनमुदाहरणानुरूपं काव्यं मयात्र निहितं न परस्य किंचित्" इस रसगंगाधरके पद्यपर टीका करते हुए नागेश भट्टने लिखा है—"तत्तदलङ्कारादिलक्ष्यरत्नयोग्यं काव्यं भामिनीविलासाख्यम्"। सर्गवद्ध होता हुआ भी यह एक मुक्तक काव्य है। इसका प्रत्येक पद्य अपनेमें स्वतः पूर्ण है और अकेला ही रस-चर्वणाकी सामर्थ्य रखता है। किसी भी पद्यका पूर्वापर पद्योंसे कोई सम्बन्ध नहीं है। क्योंकि रसगंगाधर आदिमें उदाहरण रूपमें आये हुए पद्योंका ही इसमें संकलन किया गया है। जैसा कि ग्रन्थकारने चतुर्थ विलासके अन्तमें स्वयं कहा है—

दुर्वृत्ता जारजन्मानो हरिष्यन्तीति शङ्कया
मदीयपद्यरत्नानां मञ्जूषैषा मया कृता ॥[1] (शान्तवि० ३२)।

---

१. यद्यपि हमें सन्देह है कि यह पद्य पण्डितराजका है या नहीं। क्योंकि भामिनीविलासमें आये हुए श्लोकोंके अतिरिक्त भी लगभग ५०० मुक्तक पद्य पण्डितराजके हैं जो उस्मानिया विश्वविद्यालयसे प्रकाशित "पण्डितराज काव्यसंग्रह"में प्रकाशित हो चुके हैं। यदि उन्हें संग्रह करना ही था तो सभी पद्योंको इसी मंजूषामें रख सकते थे। फिर पण्डितराज जैसा समर्थ व्यक्ति इतनी संकीर्णता वरतेगा, यह विश्वास नहीं होता। चूँकि भामिनी विलास की सभी प्रतियोंमें यह पद्य है और टीकाकारोंने इसपर टीका भी की है अतः हम भी वाध्य हैं।

नामकरण

इस ग्रन्थका नाम भामिनीविलास क्यों रक्खा ? इसका उत्तर यही है कि पण्डितराजको जो असह्य पत्नीवियोग हुआ, वही इस ग्रन्थके निर्माणमें हेतु बना। धर्मपत्नीकी असामयिक मृत्युसे वे इतने व्याकुल हो गये कि उन्हें नई कविता ही न सूझती थी और उन्होंने अपने अन्य ग्रन्थोंके उदाहरण रूपमें आये हुए पद्योंका ही संकलन कर डाला, इसीको वे इसरूपमें व्यक्त करते हैं—

काव्यात्मना मनसि पर्यणमन् पुरा मे
पीयूषसारसरसास्तव ये विलासाः।
तानन्तरेण रमणीरमणीयशीले
चेतहरा सुकविता भविता कथं नः॥

(करुण विलास १०)

अर्थात् रमणी-रमणीयशीला भामिनीके अमृततुल्य रसवाही जिन-विलासों (श्रृंगारचेष्टाओं) से कविताकी प्रवृत्ति पहिले हुआ करती थी वह अब कैसे हो ?

यहाँ यह भी स्मरणीय है कि कुछलोगोंने कल्पनाकी है लवङ्गीनामकी जिस यवनीपर पण्डितराज आसक्त थे उसकी मृत्यु होनेपर उसीकी स्मृतिमें यह ग्रन्थ पण्डितराजने लिखा। यह कोरी कल्पना ही है। पण्डितराजका पूरा करुणविलास इसका साक्षी है कि उनकी विवाहिता धर्मपत्नीके स्वर्गवास हो जानेपर ही यह लिखा गया है, किसी भोगपत्नीके नहीं।

धृत्वा पदस्खलनभीतिवशात्करं मे
या रूढवत्यसि शिलाशकलं विवाहे।
सा मां विहाय कथमद्य विलासिनि द्याम्-
आरोहसीति हृदयं शतधा प्रयाति॥

(करुण वि० ५)

"विवाहमें सप्तपदीके अवसरपर एक छोटेसे पत्थरके टुकड़ेके ऊपर पैर रखनेमें गिरजानेके भयसे जिसने मेरा हाथ पकड़ लिया था, वही तुम आज मुझे छोड़कर स्वर्गमें कैसे चढ़ रही हो यह सोचकर हृदय विदीर्ण हो रहा है।"

यदि किसी यवनीपर वे आसक्त भी होते तो वह इसप्रकार उनके साथ सप्तपदी संस्कार कराती, यह सोचा भी नहीं जा सकता।

पद्यसंख्या

इस ग्रन्थको कविने चार भागोंमें विभक्त किया है १—प्रस्ताविक या अन्योक्तिविलास, २—शृंगारविलास, ३—करुणविलास और ४—शान्तविलास। प्रत्येक विलासका विषय उसके नामसे ही स्पष्ट हो जाता है। तत्तद्विषयक अपनी स्फुट रचनाओंका, जिनमेंसे अधिकांश पंडितराजके अन्यग्रन्थोंमें आचुकीं हैं उन्होंने इसमें संकलन किया है।

श्रीलक्ष्मण रामचन्द्र वैद्यने अपने संस्करणमें प्रास्ताविक विलासमें १२९, शृङ्गार विलासमें १८३, करुणमें १९, और शान्तविलासमें ४५ पद्यों-को लिया है। जो सब मिलाकर ३७६ होते हैं। किन्तु हमारे निजी संग्रहमें संवत् १८७४ की हस्त लिखित शुद्ध और प्रामाणिक पुस्तकमें, जिसको आदर्श मानकर हमने प्रस्तुत संस्करण तैयार किया है—प्रथममें १०१, द्वितीयमें १०२, तृतीयमें ११ और चतुर्थ में ३२ पद्य हैं। इस प्रकार कुल संख्या २५४ होती है। निर्णयसागरप्रेस वम्बईसे प्रकाशित अच्युतरायकी मोदक टीका सहित प्रतिमें, श्रीपरांजपेके संस्करणमें तथा श्रीहरदत्त शर्माकी चषकटीका सहित पूनासे प्रकाशित पुस्तकमें भी यही संख्या ली गई है। अतः हमें यही प्रामाणिक संख्या प्रतीत होती है।

प्रास्ताविक या अन्योक्तिविलास

पूर्व कहा जा चुका है कि पण्डितराजका समकालीन विद्वत्समाज उनके अतुल बुद्धिवैभव तथा वाङ्मवैभव के कारण उनसे ईर्ष्या करता था।

वे भी किसी मानेमें किसीसे दबते न थे और समय-समयपर करारा प्रहार करते रहते थे। अपनी ऐसी ही कविताओं को चुनकर उन्होंने इस विलासमें रक्खा है। इसे प्रास्ताविक या अन्योक्ति विलास कहा है। प्रास्ताविक शब्दका अर्थ है प्रारम्भिक। इस अर्थ में इसका कोई विशेष महत्त्व नही है। अन्योक्ति कां अर्थ हैं अन्यको लक्ष्य करके कहा जाय किन्तु घटे किसी अन्यपर। वैसे अन्योक्ति नामसे लक्षण ग्रन्थकारों ने कोई अलंकार माना नहीं है। अप्रस्तुतप्रशंसाका ही दूसरा नाम अन्योक्ति है। उसमें भी अप्रस्तुत से प्रस्तुतकी प्रतीति कराई जाती है। इसमें १०१ पद्य हैं जिनमें केवल कुछ पद्यों को छोड़कर शेष सभीमें किसी न किसी अप्रस्तुत से प्रस्तुत की प्रतीति होती है और सभी में प्रायः किसी न किसी रूपमें पण्डितों या पण्डितराजकी उपेक्षा करनेवालोंपर कटाक्ष किया गया है। इसमें ३४ अन्योक्तियाँ हैं अर्थात् ३४ पदार्थोंको अप्रस्तुत बनाकर इन्होंने अपना गुबार निकाला है, जिनकी सूची आगे दी गई है। प्रत्येक पद्यमें पण्डितराजने जो कटाक्ष किया है वह मर्मस्पर्शी है। कई पद्योंसे इनके पुरातन वैभव तथा तत्कालीन विपन्नावस्था का भी चित्रण होता है।[1] कुछ पद्य केवल उपदेशपरक भी हैं।[2] इनका विश्वास है कि

---

१. जैसे—

पुरा सरसि मानसे विकचसारसालिस्खलत्-
परागसुरभीकृते पयसि यस्य यातं वयः।
स पल्वलजलेऽधुना मिलदनेकभेकाकुले
मरालकुलनायकः कथय रे कथं वर्तताम्॥
(प्रास्ता० २)

२. देखिये—

गीर्भिर्गुरूणां परुषाक्षराभिस्तिरस्कृता यान्ति नरा महत्त्वम्।
अलब्धशाणोत्कषणा नृपाणां न जातु मौलौ मणयो वसन्ति॥७१॥

मनुष्य कितना ही पराक्रम करे यदि भाग्य साथ नहीं देता तो सब उलटा ही होता है।[1] इस प्रकार पण्डितराजका यह प्रास्ताविक विलास एक सुन्दर काव्य होने के साथ ही उच्चकोटिका नीतिग्रन्थ भी है। प्रत्येक पद्य से एक न एक अनुपम सीख मिलती है। कुछ लोगोंका कथन है कि इन्होंने "पण्डितराज शतक" नामसे भी एक ग्रन्थ बनाया है। हमारा तो विचार है कि १०१ पद्योंका सम्भवतः यह अन्योक्तिविलास ही इनका वह ग्रन्थ है। क्योंकि भामिनीविलास नामकी सार्थकता शृङ्गार विलास-से ही है। भामिनी के दिवंगत हो जानेपर करुणविलास भी उसमें समा सकता है और अन्तमें शृङ्गार और करुण दोनोंसे विरक्त होकर शान्त-विलास भी सार्थक हो जाता है, किन्तु इस विलास में तो ऐसी कोई बात नहीं जिसे भामिनीके विलासके उपयुक्त ठहराया जासके। अतः हमारा अपना विचार है कि भामिनीविलास नामसे तीन ही विलास पण्डितराज ने लिखे होंगे और बादमें लोगोंने उनकी अन्योक्तिशतक नामक इस रचनाको भी इसीके साथ जोड़ दिया।

प्रस्तुत संस्करण

यह भामिनीविलासका केवल प्रास्ताविक विलास प्रस्तुत किया जा रहा है। इसमें मूल श्लोकका अन्वय देकर अन्वयके अनुसार ही प्रत्येक शब्दका पृथक्-पृथक् हिन्दीमें अर्थ दिया है, जिससे पाठक प्रत्येक पदको हृदयंगम कर सकें। उसके बाद संस्कृत टीका दी गई है उसमें भी मूलके पदको बड़े टाइपमें देकर उसके पर्याय, कोष आदि सामान्य टाइपमें दिये हैं। विराम आदि आधुनिक चिह्नोंका यथास्थान उपयोग किया है। फिर भावार्थमें पूरे श्लोकके भावको समान्यतः समझाया है। इस प्रकार मूल श्लोककी ३ आवृत्ति हो जाती हैं। हमारा अनुमान है कि इस रीतिसे एक बारके पढ़नेमें ही मूलश्लोक हृदयंगम हो जायगा। टिप्पणीमें

---

१. देखिये श्लोक १००।

प्रत्येक श्लोकका वैशिष्ट्य, उसमें कही गई अन्योक्ति, छन्द, अलंकार तथा तत्सम्वन्धी अन्य सभी जानकारी देनेकी चेष्टा की गई है। भाषाको अत्यन्त सरल करनेका प्रयत्न किया है जिससे सामान्य पाठक भी मूलको अच्छी प्रकार समझ सके। यदि इससे पाठकोंको कुछ भी लाभ हुआ तो हम अपना प्रयत्न सफल समझेंगे। अपनी अत्यन्य व्यस्तता तथा मानव-स्वभाव जनित चपलतासे जो त्रुटियाँ रह गई हों, उनके लिये विद्वज्जनोंसे क्षमा चाहते हुए हमें सूचित करनेका निवेदन करते हैं, ताकि अगले संस्करणमें सुधारी जासकें।

जनार्दनशास्त्री पाण्डेय

अन्योक्ति-सूची

—:०:—

पण्डितराजजगन्नाथ-प्रणीत

भामिनीविलास

का

प्रास्ताविक-अन्योक्तिविलास

॥ श्रीमन्महामङ्गलमूर्तये नमः ॥

पण्डितराजश्रीजगन्नाथप्रणीते

भामिनी-विलासे

प्रास्ताविकः अन्योक्तिविलासः

दिगन्ते श्रूयन्ते मदमलिनगण्डाः करटिनः
करिण्यः कारुण्यास्पदमसमशीलाः खलु मृगाः।
इदानीं लोकेऽस्मिन्ननुपमशिखानां पुनरयं
नखानां पाण्डित्यं प्रकटयतु कस्मिन् मृगपतिः ॥१॥

अन्वय—मदमलिनगण्डाः, करटिनः, दिगन्ते, श्रूयन्ते, करिण्यः, कारुण्यास्पदम्, मृगाः, असमशीलाः, खलु, इदानीं, पुनः, अयं, मृगपतिः, अनुपमशिखानां, नखानां, पाण्डित्यम्, अस्मिन् लोके, कस्मिन्, प्रकटयतु।

शब्दार्थ—मदमलिनगण्डाः = मदवारिसे मैले कपोलोंवाले। करटिनः = हाथी। दिगन्ते = दिशाओंके अन्तमें। श्रूयन्ते = सुने जाते हैं। करिण्यः = हथिनियाँ। कारुण्यास्पदम् = दयाकी पात्र हैं। मृगाः=हरिण। असमशीलाः = बराबरीका स्वभाव जिनका नहीं है, ऐसे हैं। खलु = निश्चय ही। इदानीं पुनः = अब फिर। अयं मृगपतिः = यह मृगराज (सिंह)। अनुपमशिखानां = तीक्ष्ण अग्रभागवाले। नखानां = नखोंकः। पाण्डित्यं = कौशल। अस्मिन् लोके = इस संसारमें। कस्मिन् = किसपर। प्रकटयतु = प्रकट करे।

टीका—मदेन मलिनाः गण्डाः येषां ते मदमलिनगण्डाः = दानदिग्ध-कपोलाः, करटाः = कपोलाः सन्ति येषां ते करटिनः = गजाः (करटो गजगण्डे स्यात्-इति विश्वः) दिशामन्तः, तस्मिन् दिगन्ते = हरित्समाप्तौ। श्रूयन्ते ननु प्रत्यक्षीक्रियन्त इति भावः। करिण्यः = गजिन्यः। कारुण्यस्य = दयालुतायाः, आस्पदं = स्थानं सन्तीतिशेषः। किं च मृगाः = हरिणाः असमं शीलं येषां ते असमशीलाः = अतुल्यबलाः। खलु = निश्चयेन। इदानीं = साम्प्रतं। पुनः। अयं मृगपतिः = एष सिंहः (सिंहो मृगेन्द्रः पञ्चास्यः—इत्यमरः) नास्त्युपमा यस्या इति अनुपमा, एवंभूता शिखा = अग्रभागः येषां ते, तेषामनुपमशिखानाम् = अतितीक्ष्णाग्राणां (शिखा-ग्रमात्रे चूड़ायां—हैमः) नखानां = कररुहाणां। पाण्डित्यं = नैपुण्यम्। अस्मिन् लोके = जगति। कस्मिन् = जने। प्रकटयतु = प्रकटीकरोतु।

भावार्थ—निरन्तर झरते हुए मदजलसे मलिन कपोलोंवाले गज तो दिशाओंके अन्तिम छोरपर हैं, ऐसा सुना है। हथिनियाँ दयाकी ही पात्र हैं। मृग अपनी बराबरीके हैं नहीं। अब भला, संसारमें यह मृगेन्द्र अपने तीक्ष्ण नखोंका प्रहार-कौशल किसपर प्रकट करे।

टिप्पणी—इस पद्यके द्वारा कविने अपने प्रकाण्ड पाण्डित्य तथा द्वेषी पण्डितोंकी तुच्छताको सिंहके प्रति कथित अन्योक्ति द्वारा व्यक्त किया है। उसका अभिप्राय है—मृगेन्द्र अपने पराक्रमको किसपर प्रकट करे अर्थात् पण्डितराज अपना धी-शौर्य किसे दिखावे। उससे टक्कर लेनेवाले मद-मलिनगण्डाः = विद्वत्ताके मदमें चूर हुए गज (पण्डित) तो भागकर दिशाओंके अन्तिम छोरपर चले गये ऐसा सुननेमें आया है, दिखाई तो वे भी नहीं दिये। हथिनियोंपर क्या पराक्रम दिखाया जाय, जो एक तो स्त्रीत्वेन अवध्य हैं, दूसरे पतियोंके भाग जानेसे शोकार्त हैं। मृग (अल्पज्ञ विद्वान्) अपनी बराबरीके हैं नहीं। इसलिये मृगराजका उद्भट शौर्य कौन देखे।

दिगन्ते०—गजोंके दिशाओंके अन्तमें होनेका कविका अभिप्राय

दिग्गजोंसे है। ऐसी पौराणिक प्रसिद्धि है कि आठ दिग्गज आठों दिशाओंसे पृथ्वीको थामे हुए हैं। इनके नाम ये हैं—

ऐरावतः पुण्डरीको वामनः कुमुदोऽञ्जनः।
पुष्पदन्तः सार्वभौमः सुप्रतीकाश्च दिग्गजाः॥ (अमर)

तुलना कीजिये—

पृथ्वि स्थिरा भव, भुजङ्गम धारयैनां
त्वं कूर्मराज तदिदं द्वितयं दिधीथाः।
दिक्कुञ्जराः कुरुत तत्त्रितये दिधीर्षां
देवः करोति हरकार्मुकमाततज्यम्॥

इस पद्यमें अन्योक्ति अलंकार तो है ही, समर्थनीय अर्थका समर्थन हो जानेसे काव्यलिङ्ग, विशेषणोंके साभिप्राय होनेसे परिकराङ्कुर और प्रस्तुत मृगपतिके वर्णन द्वारा अप्रस्तुत विद्वद्धौरेयके वर्णन बोधसे अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार भी है। इस प्रकार इन अलंकारोंका संकर हो गया है। जिसका लक्षण है—"नीरक्षीरन्यायेनास्फुटभेदालङ्कारमेलने सङ्करः—कुवलया०।

यह शिखरिणी छन्द है—"रसै रुद्रैश्छिन्ना यमनसभलागः शिखरिणी"—वृत्तरत्नाकर। इसमें ६।११ पर विराम होता है।

यह पंडितराजकी अत्यन्त दर्पोक्ति है। इसके लिये शिखरिणी उपयुक्त छन्द है, जैसाकि—

"शिखरिण्याः समारोहात् सहजैवौजसः स्थितिः" (क्षेमेन्द्र)

इस पद्यको पंडितराजने अपने रसगङ्गाधरमें अप्रस्तुतप्रशंसाके उदाहरणमें रखा है॥ १॥

पुरा सरसि मानसे विकचसारसालिस्खलत्-
परागसुरभीकृते पयसि यस्य यातं वयः।

स पल्वलजलेऽधुना मिलदनेकभेकाकुले
मरालकुलनायकः कथय रे कथं वर्तताम् ॥२॥

अन्वय—रे ! पुरा, मानसे, सरसि, विकचसारसालिस्खलत्पराग-सुरभीकृते, पयसि, यस्य, वयः, यातं, स, मरालकुलनायकः, अधुना, मिलदनेकभेकाकुले, पल्वलजले, कथं वर्तताम्, (इति) कथय।

शब्दार्थ—रे = अरे ! पुरा = पहिले। मानसे सरसि = मानस-सरोवरमें। विकच = खिले हुए, सारसालि = सरसिजों (कमलों)-की पंक्तिसे, स्खलत् = गिरते हुए, पराग = केसरसे, सुरभीकृते = सुगन्धित। पयसि = जलमें। यस्य = जिसकी। वयः यातम् = अवस्था बीती। सः = वह। मरालकुलनायकः = राजहंस। अधुना = अब। मिलदनेकभेका-कुले = इकट्ठा हुए अनेक मेंढकोंसे भरे। पल्वलजले = पोखरेके जलमें। कथं वर्तताम् = कैसे रहे। कथय = कहो ॥ २ ॥

टीका—रे ! इति नीचसम्बोधनं सूचयति। पुरा = पूर्वकाले। मानसे = मानसाख्ये। सरसि = तड़ागे। विकचानि = विकसितानि यानि सारसानि = सरोभवानि कमलानीत्यर्थः (सारसं सरसीरुहम्—इत्यमरः) तेषामालिः = पंक्तिः तस्याः स्खलन्तः = पतन्तः ये परागाः = पुष्परेणवः तैः असुरभिः सुरभिः सम्पद्यमानं कृतम् इति सुरभीकृतं तस्मिन् = सुगन्धिते। पयसि = जले यस्य = मरालकुलनायकस्येति अग्रे तच्छब्देन सम्बन्धः। वयः यातं = तारुण्यं वैशिष्ट्येनातिक्रान्तमिति यावत्। सः = एवंभूतः। मरालानां = हंसानां यत् कुलं = समूहं तस्य नायकः = अग्रणीः हंसश्रेष्ठ इत्यर्थः। अधुना = सांप्रतं। मिलन्तः = संयोगं प्राप्ताः ये अनेके = बहवः भेकाः = दर्दुराः तैः आकुलं = व्याप्तं यत् तस्मिन् = एकत्रितबहुभेकध्वनिसंकुले, पल्वलस्य = क्षुद्रसरसः (वेशन्तः पल्वलं

चाल्पसरः—इत्यमरः), जले = वारिणि, कथं वर्तताम्=कया रीत्या निवसेत् इत्यर्थः। इति कथय त्वमेव इति शेषः।

भावार्थ—प्रारम्भसे ही मानससरोवरके, पूर्ण विकसित कमलपंक्तियोंके गिरते हुए परागसे सुगन्धित जलमें जिसने सारा जीवन बिताया, वही हंसकुलनायक आज एकत्रित मेंढकोंकी टर्र-टर्र कोलाहलसे पूर्ण पोखरेके जलमें कैसे रह सकता है, तुम्हीं कहो।

टिप्पणी—चक्रवर्ती सम्राट्की छत्रछायामें रहकर यौवनके अनुपम ऐश्वर्यका भोग करनेके अनन्तर निराश्रित हुए कविमूर्धन्यकी यह उक्ति धनोन्मादसे विवेकहीन हुए उस व्यक्तिके प्रति है जो इन्हें भी साधारण पंडितोंकी श्रेणीमें समझता है।

'रे! यह सम्बोधन स्पष्ट ही कविप्रयुक्त फटकारका सूचक है। इस पद्यसे यह भी ध्वनित होता है कि अलौकिक पाण्डित्य भले ही हो पर उसका किंचित् भी गर्व न होना चाहिये; क्योंकि दैवगतिसे ऐसी भी परिस्थिति आ सकती है जैसे कि मानसके सुरभित परागपूर्ण जलमें जीवन व्यतीत करनेवाले मरालकुलनायकको अनेक भेकाकुल पोखरेके गन्दे जलमें वास करने की कल्पना करनी पड़े।

इस पद्यमें भी अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार है; क्योंकि अप्रस्तुत राजहंसके द्वारा प्रस्तुत उस महापुरुषकी प्रतीति होती है जो महान् ऐश्वर्यका भोग कर चुका है और अब विपत्तिमें है। साथ ही काव्यलिङ्ग भी अलंकार है; क्योंकि हंसाधीशके पल्वलजलमें न रह सकने रूप अर्थका समर्थन उसके मानसनिवासद्वारा होता है।

यह पृथ्वी छन्द है—"ज सौ ज स य ला वसुग्रहयतिश्च पृथ्वी-गुरुः"—(वृत्त०) इसमें ८ और ९ पर विराम होता है।

पृथ्वी छन्दका प्रयोग भी प्रायः ओजपूर्ण वाक्योंमें ही होता है और समासपूर्ण रचना इसके लिये उपयुक्त होती है।

'पृथ्वीसाकारगम्भीरैरोजःसर्जिभिरक्षरैः ।
समासग्रन्थियुक्ताऽपि याति प्रत्युत दीर्घताम् ॥ (क्षेमेन्द्र)

यह पद्य भी रसगङ्गाधरमें अप्रस्तुतप्रशंसा प्रकरणमें दिया गया है ॥२॥

तृष्णालोलविलोचने कलयति प्राचीं चकोरीगणे
मौनं मुञ्चति किं च कैरवकुले कामे धनुर्धुन्वति ।
माने मानवतीजनस्य सपदि प्रस्थातुकामेऽधुना
धातः किं नु विधौ विधातुमुचितो धाराधराडम्बरः॥३॥

अन्वय—धातः, तृष्णालोलविलोचने, चकोरीगणे, प्राचीं, कलयति, किं च, कैरवकुले, मौनं, मुञ्चति, कामे, धनुः, धुन्वति, मानवतीजनस्य, माने, सपदि, प्रस्थातुकामे, अधुना, विधौ, धाराधराडम्बरः, विधातुम्, उचितः, किं नु ।

शब्दार्थ—धातः = हे विधाता ! तृष्णालोलविलोचने = उत्कण्ठासे चञ्चल नेत्रोंवाले । चकोरीगणे = चकवी-समूहके । प्राचीं कलयति = पूर्वकी ओर देखनेपर । कैरवाणां = श्वेतकमलोंके । कुले = समूहके । मौनं मुञ्चति = मौन छोड़ देने (अर्थात् विकसित हो जाने) पर । कामे = कामदेवके । धनुः धुन्वति = धनुष कँपा लेनेपर । मानवतीजनस्य = मानिनीसमूहके । माने = दर्पके । प्रयातुकामे = छूटनेके इच्छुक होनेपर । अधुना = अब । विधौ = चन्द्रमाके विषयमें । धाराधराडम्बरः = मेघों का घटाटोप । विधातुं = करना । उचितः किं नु = उचित है क्या ?

टीका—हे धातः = विधे ! तृष्णया = पिपासया लोलानि = चपलानि विलोचनानि = नयनानि यस्य तस्मिन् । एवंभूते चकोरीगणे = कोकीवृन्दे । प्राचीं = पूर्वां दिशं । कलयति = पश्यति सति । सतृष्णैश्चञ्चलनेत्रैः चकोरीगणे चन्द्रोदयसम्भावनया पूर्वाशामौत्सुक्येनावलोकयति सतीत्यर्थः । किं च = तथा । कैरवाणां = सितकमलानां (सिते कुमुद-

कैरवौ-इत्यमरः) कुले = समूहे । मौनं = मुकुलीभावं । मुञ्चति = त्यजति सति । विकसति सतीत्यर्थः । कामे = मदने । धनुः = पौष्पं चापं । धुन्वति = कम्पयति सति । मानवतीजनस्य = यौवनाद्यभिनिवेशशालि-सुन्दरीगणस्य । माने = अहंकारे । सपदि = तत्क्षणादेव । प्रयातुं = गन्तुं कामः इच्छा यस्य तस्मिन् (तुं काममनसोरपि इति तुमादेशः) । अधुना = सम्प्रति आसन्नचन्द्रोदये इत्यर्थः । धाराधरस्य = जलदपटलस्य (धारा धरो जलधरस्तडित्वान्वारिदोऽम्बुभृत्–इत्यमरः) आडम्बरः=आटोपः । विधौ = चन्द्रविषये । विधातुं = कर्तुम् । उचितः किम् = नैवोचित इतिभावः ।

भावार्थ—हे विधाता ! जबकि चकोरियाँ सतृष्ण और चञ्चल नेत्रोंसे पूर्वदिशाकी ओर देखने लग गयी हैं, कैरवकुलका (श्वेतकमलसमूहका) मौन खुलने लगा है अर्थात् वे विकसित होने लगे हैं, कामदेवने अपने धनुषको झङ्कृत कर लिया है, मानिनी तरुणियोंका मान भङ्ग होने ही वाला है, ठीक ऐसे अवसरपर चन्द्रमाको ही जलदपटलसे ढक देना क्या आपको शोभा देता है ?

टिप्पणी—अपने अद्भुत गुणोंसे सबको प्रसन्न रखनेवाले किसी उदीयमान प्रतिभाशाली विद्वान्के अभ्युदयको न सहकर स्वकीय दुर्गुणोंसे उसके सुकृतको आवृत करनेकी इच्छावाले व्यक्तिके प्रति यह अन्योक्ति विधाताको लक्ष्य करके कही गयी है । कविप्रसिद्धि ऐसी है कि चकोर चन्द्रोदयकी प्रतीक्षा करता है और चन्द्रकिरणें ही उसका आहार हैं । तुलना—ज्योत्स्नापानमदालसेन वपुषा मत्ताश्चकोराङ्गनाः--(विद्ध-शालभञ्जिका) । श्वेतकमल चन्द्रकिरणोंसे ही विकसित होता है । चन्द्रोदयके अनन्तर ही कामोद्दीप्ति विशेष होती है और मानिनी अधिक वियोग न सहकर अपना मानभङ्ग करनेको विवश होती है । इतनोंका उपकार करनेवाले चन्द्रमाके उदयकालमें ही इतने विशाल आकाशको छोड़कर

ठीक चन्द्रमाके सामने तुमने मेघाडम्बर खड़ा कर दिया। इन सबकी आशाओंपर तुषारपात करना क्या तुम्हें उचित है ?

इससे यह व्यक्त होता है कि अपने ऐश्वर्यमदसे उन्मत्त होकर किसीके प्रभावको दबा देना या किसीका आशाच्छेद करना अनुचित है। इसमें अन्योक्तिके सिवा प्रत्येक विशेषण साभिप्राय होनेसे परिकर अलङ्कार भी है। रसगंगाधरमें इस पद्यको असूया नामक संचारिभावके उदाहरणरूपमें पढ़ा गया है। असूयाका लक्षण है—

"परोत्कर्षादिजन्यः परनिन्दाकारणीभूतश्चित्तवृत्तिविशेषः"।

यह शार्दूलविक्रीडित छन्द है—"सूर्याश्वैर्मसजस्ततः सगुरवः शार्दूलविक्रीडितम्।" इसमें १२ और ७ में विराम होता है।

शार्दूलक्रीडितं धत्ते तेजो जीवितमूर्जितम्॥ ३॥ (क्षेमेन्द्र)

अयि दलदरविन्द स्यन्दमानं मरन्दं
तव किमपि लिहन्तो मञ्जु गुञ्जन्तु भृङ्गाः।
दिशि दिशि निरपेक्षस्तावकीनं विवृण्वन्
परिमलमयमन्यो बान्धवो गन्धवाहः॥४॥

अन्वय—अयि दलदरविन्द ! तव, किमपि, स्यन्दमानं, मरन्दं, लिहन्तः, भृङ्गाः, मञ्जु, गुञ्जन्तु, निरपेक्षः, दिशि दिशि, तावकीनं, परिमलं, विवृण्वन्, अयं, गन्धवाहः, अन्य, एव, बान्धवः।

शब्दार्थ—अयि दलदरविन्द = हे खिलते हुए कमल ! तव = तुम्हारे। किमपि = थोड़ेसे। स्यन्दमानं = चूते हुए। मरन्दं = मधुको। लिहन्तः = चाटते हुए। भृङ्गाः = भौंरे। मञ्जु गुञ्जन्तु = मीठी गुंजार भले ही करें। निरपेक्षः = निर्लोभ होकर। दिशि दिशि = प्रत्येक दिशा में। तावकीनं = तुम्हारे। परिमलं = सुगन्धको। विवृण्वन् = फैलाता हुआ।

अयं = यह । गन्धवाहः = वायु । अन्य एव = विलक्षण ही । बान्धवः = मित्र है ॥ ४ ॥

टीका—अयि, दलंश्चासौ अरविन्दश्च तत्सम्बुद्धौ दलदरविन्द = हे विकसितकमल ! भृङ्गाः = द्विरेफाः । तव किमपि = कथंचिदपि । स्यन्दमानं = किंचित्स्रवत्, मरन्दं = परागं, लिहन्तः = आस्वादयन्तः । मञ्जु = मनोज्ञं यथास्यात्तथा, गुञ्जन्तु = शब्दयन्तु नाम । किन्तु निरपेक्षः = अपेक्षारहितः निर्लोभ इतियावत् । सन् । दिशि दिशि = दशस्वपि दिक्षु । तावकीनं = त्वत्सम्बन्धि । परिमलं = सुगन्धं । विवृण्वन् = विशदयन् । अयं गन्धं वहतीति गन्धवाहः = पवनः । तु बान्धवः = सखा । कश्चिदन्य एव = अलौकिक एवेत्यर्थः ।

भावार्थ—हे विकसित कमल ! तुम्हारे गिरते हुए परागको चाटनेवाले ये भौंरे भलेही गुनगुनाया करें; किन्तु विना किसी लोभके दशों दिशाओंमें तुम्हारी सुगन्धको फैलानेवाला अनुपम मित्र तो यह पवन है ।

टिप्पणी—कमलको लक्ष्य करके कही गयी इस अन्योक्ति द्वारा कविने चाटुकारोंके प्रभावमें आकर वास्तविकताकी उपेक्षा करनेवाले सम्पन्न व्यक्तियोंको फटकारा है । टुकड़ेके लोभी ये भौंरे (चाटुकार) तभी तक तुम्हारी चाटुकारिता करेंगे जबतक इन्हें तुमसे कुछ (पराग) मिलता है । इसके बाद तो ये स्वप्नमें भी तुम्हें दिखाई न देंगे । मञ्जु विशेषण यहाँ विशेष अर्थ रखता है । अर्थात् ये तुमसे ऐसी बातें करते हैं जो तुम्हें सुननेमें मधुर लगें भलेही उनसे तुम्हारा हित न होता हो । किन्तु सभी ऐसे नहीं होते । कुछ ऐसे भी सच्चे और वास्तविक मित्र होते हैं जो विना किसी अपेक्षाके बहुत बड़ा उपकार करते हैं । जैसे यह पवन विना किसी लोभके दशों दिशाओंमें तुम्हारी गन्धको प्रसारित करता है । अतः यही अनुपम मित्र है ऐसा तुम्हें समझना चाहिये ।

इसमें अन्योक्तिके सिवा भेदकातिशयोक्ति भी अलंकार है "भेदकातिशयोक्तिस्तु तस्यैवान्यत्ववर्णनम्" (–कुवलया०)। यह मालिनी छन्द है—

'न न म य य युतेयं मालिनी भोगिलोकैः (—वृत्त०) इसमें ८,७ पर विराम होता है। मालिनी कोमल छन्द है। इस पद्यमें एक मित्रकी भाँति उचित सलाह दी गई है। अतः छन्दका औचित्य स्पष्ट है ॥ ४ ॥

समुपागतवति दैवादवहेलां कुटज मधुकरे मा गाः।
मकरन्दतुन्दिलानामरविन्दानामयं महामान्यः ॥५॥

अन्वय—कुटज! दैवात्, समुपागतवति, मधुकरे, अवहेलां, मागाः, अयं, मकरन्दतुन्दिलानाम्, अरविन्दानां, महामान्यः।

शब्दार्थ—कुटज = हे कुटज वृक्ष! दैवात् = भाग्यवश। मधुकरे = भौंरेके। समुपागतवति = समीपमें आने पर। अवहेलां = तिरस्कार। मा गाः = मत दिखाना। अयम् = यह। मकरन्दतुन्दिलानां = परागसे भरे हुए। अरविन्दानां = कमलोंका। महामान्यः = अत्यन्त पूज्य है।

टीका—हे कुटज = हे वत्सकवृक्ष! दैवात् = भाग्यवशात् (दैवं दिष्टं भागधेयं भाग्यं-इत्यमरः)। समुपागतवति = समीपमभिसर्पति। मधुकरे = मधुसंचयशीले भ्रमरे। अवहेलाम् = अवज्ञां। मा गाः = तस्यावमाननं मा कार्षीरित्यर्थः। यतः। मकरन्देन = पुष्परसेन (मकरन्दः पुष्परसः—अमरः) तुन्दिलाः = पूर्णाः तेषां, परागपरिपूर्णानामित्यर्थः। अरविन्दानां = कमलानाम्। अयं = भ्रमरः। महामान्यः = अतीवादरणीयः। अस्तीतिशेषः।

भावार्थ—हे कुटज! मधुसञ्चय करता हुआ भौंरा यदि भाग्यवशात् कभी तुम्हारे पास आ जाय तो उसका तिरस्कार न करना, क्योंकि परागसे भरे हुए कमलपुष्प उसे अत्यन्त आदरसे रस ग्रहण करनेके लिये आमन्त्रित करते हैं।

टिप्पणी—सब दिन सबके एकसे नहीं रहते, किसी भाग्यशाली पुरुषके साथ रहकर अनुपम ऐश्वर्यका भोग करनेवाला व्यक्ति भी समयके फेरसे किसी क्षुद्रकी शरण जानेको विवश हो सकता है। ऐसी स्थितिमें उसकी विवशता देखकर क्षुद्र व्यक्ति यदि उसकी अवज्ञा करे तो यह उसकी मूर्खता है। उसे तो गर्वके साथ उसका सम्मान करना चाहिये कि ऐसा आदरणीय व्यक्ति भाग्यसे मेरे पास आया है। इसी भावको इस अन्योक्तिद्वारा व्यक्त किया गया है। यहाँ मधुकर और महामान्य ये शब्द अपना विशेष महत्त्व रखते हैं। वह मधुकर है, उसकी विशेषता है कि वह मधुरका ही संग्रह करता है, कटुपदार्थोंका नहीं। अतः उससे किसीका अपकार होनेकी आशंका नहीं और उसकी सज्जनता असन्दिग्ध है। वह परागपूर्ण कमलोंसे मान्य ही नहीं महामान्य है, इसलिये उसकी अवहेलना करना मूर्खता क्या, महामूर्खता होगी।

इस पद्यमें अवहेलना न करना रूप अर्थका समर्थन उसके महामान्य होने से किया गया है अतः काव्यलिङ्ग अलंकार है।

यह आर्याछन्द है। आर्या मात्रिक छन्द है इसमें वर्णोंकी गणना न होकर मात्राओंकी गणना होती है। प्रथम-तृतीयपादोंमें १२।१२, द्वितीयमें १८ और चतुर्थपादमें १५ मात्राएँ होती हैं।

यस्याः पादे प्रथमे द्वादशमात्रास्तथा तृतीयेऽपि।
अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश साऽऽर्या॥ वृत्त० ॥५॥

तावत्कोकिल विरसान् यापय दिवसान् वनान्तरे निवसन्।
यावन्मिलदलिमालः कोऽपि रसालः समुल्लसति ॥६॥

अन्वय—कोकिल! वनान्तरे, निवसन्, तावत्, विरसान्, दिवसान्, यापय, यावत्, मिलदलिमालः, कोऽपि, रसालः, समुल्लसति।

शब्दार्थ—कोकिल = हे कोकिल! वनान्तरे = जंगलोंमें। निवसन् =

निवास करते हुए। विरसान् = रसहीन। दिवसान् = दिनोंको। तावत् = तब तक। यापय = विताओ। यावत् = जब तक। मिलदलिमालः = लिपट रही है भौंरोंकी पंक्ति जिसमें ऐसा। रसालः = आम। समुल्लसति = खिल न जाय।

टीका—हे कोकिल = पिक! त्वं तावत् = तावत्कालपर्यन्तमित्यर्थः। वनान्तरे = अरण्यमध्ये। निवसन् = तिष्ठन् सन्। नतु क्षणं विहरन् इतिभावः। विरसान् = रसरहितान्, दैन्ययुतान् इतियावत्। दिवसान् = अहानि। यापयं = व्यतीयाः। यावत्। कोऽपि = एकोऽपि इतिभावः। मिलदलिमालः मिलन्ति = आश्लिषन्ति अलीनां = भ्रमराणां मालाः = पङ्क्तयो यस्मिन् एवंभूतः। रसालः = आम्रवृक्षः (आम्रश्चूतो रसालोऽसौ—अमरः) रसपरिपूर्ण इति ध्वन्यते, समुल्लसति = विकासमाप्नोति।

भावार्थ—हे कोकिल! इसी वनके अन्दर रहकर धैर्यपूर्वक अपने इन दैन्यमय दिवसोंको तवतक विताओ जवतक कि भौंरोंके झुण्डोंसे घिरा कोई भी रसालका वृक्ष मञ्जरियोंसे खिल न उठे।

टिप्पणी—कोकिलको सम्बोधित करके कही गयी यह अन्योक्ति उस विद्वान्को लक्ष्य करती है जो गुणग्राहीके अभावमें दैन्यमय जीवन बिता रहा है। कवि उसे विश्वास दिलाता है कि तुम धैर्य रक्खो, समय आयेगा जबकि रसाल खिलेगा और तुम तृप्त हो जाओगे। तुलना—

> विपदि धैर्यमथाभ्युदये क्षमा
> सदसि वाक्पटुता युधि विक्रमः।
> यशसि चाभिरुचिर्व्यसनं श्रुतौ
> प्रकृतिसिद्धमिदं हि महात्मनाम्॥

इस पद्यमें अप्रस्तुत प्रशंसा अलङ्कार है। अप्रस्तुत कोकिलसे प्रस्तुत किसी विद्वान्की और रसालसे प्रस्तुत किसी गुणग्राहीकी प्रतीति होती है; यह पद्य भी रसगङ्गाधर में अप्रस्तुत प्रशंसा करणमें पढ़ा गया है।

यह आर्या छन्द है (लक्षण देखिये श्लोक ५)॥ ६॥

नितरां नीचोऽस्मीति त्वं खेदं कूप मा कदापि कृथाः।
अत्यन्तसरसहृदयो यतः परेषां गुणगृहीतासि ॥७॥

अन्वय—हे कूप ! नितरां, नीचः, अस्मि, इति, त्वम्, खेदं, कदापि, मा कृथाः, अत्यन्तसरसहृदयः, यतः, परेषां, गुणगृहीता, असि।

शब्दार्थ—कूप = हे कूवे ! नितरां = अत्यन्त। नीचः = नीचा (गहरा)। अस्मि = हूँ। इति = ऐसा। खेदं = दुःख। त्वं = तुम। कदापि = कभी भी। मा कृथाः = मत करना। अत्यन्तसरसहृदयः असि = तुम अत्यन्त सरस (जलसे पूर्ण या सौजन्यसे युक्त) हृदय (अन्तस्तल) वाले हो। यतः = क्योंकि। परेषां = दूसरोंके। गुण-गृहीता = गुणों (रस्सियों या दयादाक्षिण्यादि)को ग्रहण करनेवाले। असि = हो।

टीका—हे कूप = उदपान ! अहम्, नितराम् = अत्यन्तम्। नीचः = निम्नः, हीन इतियावत्। अस्मि इति, खेदं = दुःखं। कदापि = कदाचिदपि। मा कृथाः = नैव कुरु। यतः। त्वम्। अत्यन्तम् = अतीव सरसं = रसपूर्णं (जलपूर्णं शृङ्गारादियुतं वा) हृदयम् = अन्तस्तलं यस्य स एवंभूतः। परेषाम् = अन्येषां। गुणानां = नीत्युपदेशादीनां रज्जूणां वा गृहीता = ग्राहकः। असि।

भावार्थ—हे कूप ! "मैं अत्यन्त नीचा हूँ" ऐसी दुःखमय भावना तुम कभी न करना, तुम अतीव सरस हृदयवाले हो; क्योंकि दूसरों के गुण ग्रहण करते हो।

टिप्पणी—गुणवान् व्यक्तिको भी जब चारों ओरसे ईर्ष्यालु जनोंकी अवहेलना सहनी पड़ती है तो वह खिन्न होकर अपनेमें हीनता अनुभव करने लगता है, ऐसे ही व्यक्तिको लक्ष्यकरके कूपको सम्बोधित कर यह अन्योक्ति कही गयी है। हे कूप ! तुम नीचे अवश्य हो, इससे भौतिक सम्पदाओंके मदसे चूर व्यक्ति तुम्हें अपनेसे हीन भले ही समझें, किन्तु तुम

स्वयं अपनेको हीन न समझो। क्योंकि तुम अत्यन्त सरसहृदय हो (सरस—कूपपक्षमें जलपूर्ण, व्यक्तिपक्षमें शृङ्गारादिसे पूर्ण) और दूसरोंके गुणोंको (कूपपक्षमें रस्सियोंको, व्यक्तिपक्षमें दयादानादिको) सादर ग्रहण करते हो।

इस पद्यमें नीचा होनेसे खेद न करने रूप अर्थका समर्थन अत्यन्त सरस हृदय होने और परगुणग्राहक होनेरूप अर्थसे किया गया है अतः काव्यलिङ्ग अलंकार भी है। नीच, सरस और गुण शब्दों में श्लेष है। रसगङ्गाधरमें यह पद्य श्लिष्टविशेषणा अप्रस्तुतप्रशंसाके उदाहरणमें पढ़ा गया है। कुछ प्रतियों में इसे ८ वें श्लोकके वाद पढ़ा गया है। आर्या छन्द है (लक्षण दे० श्लो० ५)॥ ७॥

कमलिनि मलिनीकरोषि चेतः
किमिति बकैरवहेलितानभिज्ञैः।
परिणतमकरन्दमार्मिकास्ते
जगति भवन्तु चिरायुषो मिलिन्दाः ॥ ८ ॥

अन्वय—कमलिनि! अनभिज्ञैः, बकैः, अवहेलिता, किमिति चेतः, मलिनीकरोषि, परिणतमकरन्दमार्मिकाः, ते, मिलिन्दाः, जगति, चिरायुषः, भवन्तु।

शब्दार्थ—कमलिनि = हे कमलिनी। अनभिज्ञैः = न जानते हुए (मूर्ख)। बकैः = बगलों द्वारा। अवहेलिता = अपमानित की हुई। किमिति = क्यों ऐसे। चेतः = चित्तको। मलिनीकरोषि = मलिन करती हो। परिणत = (तुम्हारे) पूर्ण रूपसे पके हुए, मकरन्द = परागके, मार्मिकाः = मर्म (वास्तविक महत्त्व) को समझनेवाले। ते = वे। मिलिन्दाः = भौंरे। जगति = संसारमें। चिरायुषः = दीर्घ आयुवाले (चिरजीवी)। भवन्तु = होवें ॥८॥

टीका—हे कमलिनि—न अभिजानन्तीति अनभिज्ञाः, तैः = त्वन्महत्त्वमजानद्भिः। मूर्खैरितियावत्। वकैः। अवहेलिता = अवमानिता। किमिति = किमर्थं। चेतः = हृदयम्। अमलिनं मलिनं करोषि इति मलिनीकरोषि = कलुषीकरोषि। मूर्खजनकृतयावज्ञया त्वया न खेदः कर्तव्य इत्यर्थः। यतः परिणतः = परिपक्वः यः मकरन्दः = परागः तस्य मार्मिकाः = मर्मज्ञाः एवंभूताः। ते सुप्रसिद्धा मिलिन्दाः = भ्रमराः। जगति = संसारे, चिरम् आयुः येषां ते चिरायुषः = दीर्घजीविनः भवन्तु।

भावार्थ—हे कमलिनि ! मूर्ख बगुले यदि तुम्हारा अपमान करते हों तो इससे तुम अपने मनको खिन्न क्यों करती हो। तुम्हारे परिपक्व परागके मर्मको जाननेवाले भौंरे संसारमें दीर्घायु रहने चाहिये।

टिप्पणी—कोई कितनाही गुणवान् या विद्वान् हो, धूर्तलोग तो उसका तिरस्कार ही करते हैं। परन्तु उन धूर्तोंकी उस अवहेलनासे उसे दुःखी नहीं होना चाहिये; क्योंकि संसारमें उसके गुणों या महत्ताको समझनेवाले भी लोग हैं। कमलिनीको सम्बोधितकर कही गयी यह अन्योक्ति इसी भावको व्यक्त करती है। अर्थात् हे कमलिनि ! ये बगले तुम्हारी वास्तविकताको नहीं जानते, इसीसे तुम्हारी अवहेलना करते हैं। बगला अपनी धूर्तता और दम्भके लिये प्रसिद्ध है। किसी भी दम्भी को देखकर लोग "बगलाभगत" की संज्ञा देते हैं। बगलेकी उपमासे व्यक्त होता है कि ये अवहेलना करनेवाले मूर्ख तो हैं ही साथ ही धूर्त और पाखण्डी भी हैं। अतः इससे तुम्हें खेद करनेकी आवश्यकता नहीं, यह तो उनका स्वभाव ही है। तुम्हारे परिपक्व परागका स्वाद जिन्हें ज्ञात है अर्थात् जो तुम्हारी महत्ता-गुणवत्ताको जानते हैं वे भ्रमर तो चिरकाल तक तुम्हारे यशका वर्णन करते ही रहेंगे। "जगति जयन्तु चिरा०" यह भी पाठ है। भवन्तुकी अपेक्षा जयन्तु पाठ अच्छा है।

इस पद्यमें भी खेद न करनेरूप अर्थका समर्थन भ्रमरोंकी दीर्घायुरूप अर्थसे किया गया है अतः काव्यलिङ्ग अलंकार है।

यह पुष्पिताग्रा छन्द है। लक्षण—"अयुजि नयुग रेफतो यकारो युजि च नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा" (वृत्त०) अर्थात् इसके विषम पादोंमें (१।३) न न र य और सम पादोंमें (२।४) न ज ज र ग मात्रा होतीं हैं, १२।१३ पर विराम होता है ॥८॥

येनामन्दमरन्दे दलदरविन्दे दिनान्यनायिषत।
कुटजे खलु तेने हा तेनेहा मधुकरेण कथम् ॥ ९ ॥

अन्वय—अमन्दमरन्दे, दलदरविन्दे, येन, दिनानि, अनायिषत, हा, तेन, खलु, मधुकरेण, कुटजे, ईहा, कथं, तेने।

शब्दार्थ—अमन्दमरन्दे = अतुलपरागवाले। दलदरविन्दे = खिले कमलोंमें। येन = जिसने। दिनानि = दिनोंको। अनायिषत=विताया है। हा = खेद है। तेन खलु = उसी। मधुकरेण = भौंरेने। कुटजे = कुरैयाके पौधोंमें। ईहा = इच्छा। कथं तेने = कैसे व्यक्त की ॥९॥

टीका—अमन्दमरन्दे न मन्दम् अमन्दं = प्रचुरं, मरन्दं = मकरन्दं यस्मिन् तस्मिन्। प्रचुरपरागपूर्णे इत्यर्थः। दलंश्चासौ अरविन्दश्च दलदरविन्दः तस्मिन् = विकसितकमले, येन=मधुकरेण, दिनानि = जीविताहानि अनायिषत = व्यतीतानि। हा इति खेदे। तेन खलु = तेनैव। मधुकरेण = भ्रमरेण। कुटजे = तन्नामके तिक्तवृक्षे, निष्परागे। ईहा=वाञ्छा। कथं = किमर्थे। तेने = विस्तृता।

भावार्थ—छलकते हुए पुष्परससे परिपूर्ण विकसित कमलमें रसास्वादन करते जिसके दिन बीते, खेद है कि उसी मधुकरने इस निष्पराग और कड़ुवे कुटज वृक्षमें आनेकी इच्छा क्यों की?

टिप्पणी—भयानक विपत्ति आनेपर भी तुच्छ व्यक्तिकी शरणमें नहीं जाना चाहिये। उससे कुछ लाभ होना तो असंभव ही है, उल्टे लोकमें अपवाद होता है—इसी भावको इस अन्योक्ति द्वारा व्यक्त किया है—जिस भ्रमरने खिले हुए कमलमें जीवनभर रहकर तृप्तिपर्यन्त इसका

स्वाद लिया है अर्थात् जिसने जीवनभर किसी सार्वभौमके आश्रयमें रहकर अनुपम ऐश्वर्यका उपभोग किया है, वही अब इस कुटज वृक्षके पास जिसका स्वाद भी कड़वा है और जिसमें पराग का नाम भी नहीं है, आ कैसे पड़ा। इससे यह भी व्यक्त होता है कि परिस्थिति सदा एक सी नहीं रहती, महान्से महान् ऐश्वर्यके उपभोक्ताको भी दाने-दानेके लिये तरसना पड़ सकता है। कुटजको हिन्दीमें कुरैया या कुरा, मराठीमें कुडा तथा पर्वतीय भाषामें "कुर्ज या तितपाती" कहते हैं।

इस पद्यमें अप्रस्तुत प्रशंसा और यमक अलंकार है। आर्या छन्द है (लक्षण दे० श्लो० ५) ॥९॥

अयि मलयज महिमाऽयं कस्य गिरामस्तु विषयस्ते।
उद्गिरतो यद्गरलं फणिनः पुष्णासि परिमलोद्गारैः ॥१०॥

अन्वय—अयि मलयज! अयं, ते, महिमा, कस्य, गिरां, विषयः, अस्तु, यत्, गरलम्, उद्गिरतः, फणिनः, परिमलोद्गारैः, पुष्णासि।

शब्दार्थ—अयि मलयज = हे चन्दन! अयं ते महिमा = यह तेरा महत्त्व। कस्य = किसके। गिरां विषयः = वाणीका विषय। अस्तु = हो (अर्थात् तुम्हारे महत्त्वका वर्णन कौन करे)। यत् = जो कि। गरलं = विषको। उद्गिरतः = उगलते हुए। फणिनः = सपोंको। परिमलोद्गारैः = सुगन्धके उद्गारोंसे। पुष्णासि = पुष्ट करते हो।

टीका—अयि मलयज = हे चन्दनद्रुम! अयं = प्रत्यक्षः ते = तव महिमा = महत्त्वं, कस्य = जनस्य गिरां = वाचां विषयः = वर्णनीयं वस्तु। अस्तु। अनिर्वाच्यत्वान्न कस्यापि इति भावः। यत् गरलं = विषम् उद्गिरतः = वमतः अपि, फणाः सन्ति येषां ते, तान् फणिनः = भुजगान्। परिमलानां = मनोहरसुगन्धानां (विमर्दोत्थे परिमलो गन्धे जनमनोहरे— अमरः) उद्गारैः = उद्गिरणैः, पुष्णासि = पोषयसि।

भावार्थ—हे चन्दनद्रुम ! तुम्हारी इस महिमाका वर्णन कौन कर सकता है, जो कि तुम, निरन्तर विषवमन करनेवाले नागोंको भी अपने मनोहर सुगन्ध देकर पुष्ट ही करते हो ।

टिप्पणी—उपकार करनेवालेका उपकार करना तो जीवका धर्म ही है, महान्‌की महत्ता तो इसमें है कि वह अपकारीका भी उपकार करे। इसी भावको इस अन्योक्ति द्वारा व्यक्त किया है ।

तुलना०—उपकारिषु यः साधुः साधुत्वे तस्य को गुणः ।
अपकारिषु यः साधुः स साधुः सद्भिरुच्यते ॥

निरन्तर विष उगलनेवाले भुजंगोंको भी अपनी मनोहर सुगन्धसे पुष्ट करता है इसलिये मलयजकी महिमा अवर्णनीय है ।

फणी कहनेसे स्पष्ट है कि उनका आटोप ही भयङ्कर है और विष-वमन उनके स्वभाव को व्यक्त करता है । उनसे गुणग्राहकता या किसी के उपकारकी आशा ही नहीं की जा सकती । यह भी परिकर अलंकार है । आर्याछन्द है (लक्षण दे० श्लो० ५) ॥१०॥

पाटीर तव पटीयान् कः परिपाटीमिमामुरीकर्तुम् ।
यत्पिषतामपि नृणां पिष्टोऽपि तनोषि परिमलैः पुष्टिम् ॥११॥

अन्वय—पाटीर ! तव, इमां, परिपाटीम्, उरीकर्तुं, कः, पटीयान्, यत्, पिष्टः, अपि, पिषताम्, अपि, नृणां, परिमलैः, पुष्टिं, तनोषि ।

शब्दार्थ—पाटीर = हे मलयज (चन्दन) । तव = तुम्हारी । इमां = इस । परिपाटीं = पद्धतिको । उरीकर्तुं = स्वीकार करनेमें । कः पटीयान् = कौन निपुण है । यत् = जोकि (तुम) । पिष्टः अपि = पीसे (घिसे) जाते हुए भी । पिषतां = पीसनेवाले । नृणां = मनुष्योंकी परिमलोद्गारैः = सुगन्ध बखेरकर । पुष्टिं तनोषि = पुष्टिको बढ़ाते हो ।

टीका—पटीरो मलयाचलः, तत्र भवः, तत्सम्बुद्धौ हे पाटीर=मलयज ! तव इमां=वक्ष्यमाणां, परिपाटीं=पद्धतिम्। उरीकर्तुं=स्वीकर्तुं। कः=जनः। पटीयान्=अतिशयेन पटुः। अस्तीतिशेषः। न कोऽपीत्यर्थः। यत् पिष्टः=चूर्णीकृतः घृष्ट इति वा, अपि। पिषतां=चूर्णीकुर्वतां। नृणां=जनानाम् अपि। परिमलानां=सुगन्धानाम् उद्गारैः=आमोद-विकिरणैः। पुष्टिं=परिपोषं। तनोषि=विस्तारयसि। करोषीत्यर्थः।

भावार्थ—हे मलयज ! तुम्हारी इस रीतिको समझनेमें कौन चतुरता दिखा सकता है, जोकि तुम घिसे जाते हुए भी घिसनेवालोंको अपनी सुमधुर गन्धसे पुष्ट ही करते हो।

टिप्पणी—इस अन्योक्ति का भी भाव श्लोक १० की भाँति है। इतना वैशिष्ट्य है कि उसमें भुजंग केवल विषवमन करते हैं, चन्दनको नष्ट करने की चेष्टा नहीं करते; किन्तु इसमें तो घिसनेवाले उसे घिसकर नष्ट ही कर डालना चाहते हैं, तो भी चन्दन अपनी सुगन्धसे उन्हें पुष्ट ही करता है। यह उसकी महिमा है। यहाँ पाटीर यह शब्द लाक्षणिक है। पट (वस्त्र) निर्माताको "पटी" कहते हैं। उसकी तरह अपने गुणों (तागों अथवा सुगन्धादि) को जो ईरित करता है=फैलाता है वह पटीर हुआ। मलयाचल भी अपने: सौरभमय गुणसे वहाँके सभी पदार्थों-को सुगन्धित कर देता है अतः लक्षणया उसे भी पटीर कहा है। उसमें उत्पन्न होनेवाला पाटीर अर्थात् चन्दन द्रुम हुआ। तुलना०—

किं तेन हेमगिरिणा रजताद्रिणा वा यत्र स्थिता हि तरवस्तरवस्त एव।
मन्यामहे मलयमेव यदाश्रयेण कंकोलनिम्बकुटजा अपि चन्दनाः स्युः॥

काव्यलिङ्ग अलंकार और आर्याछन्द है। लक्षण पूर्ववत् ॥११॥

नीरक्षीरविवेके हंसालस्यं त्वमेव तनुषे चेत्।
विश्वस्मिन्नधुनान्यः कुलव्रतं पालयिष्यति कः ॥१२॥

अन्वय—हंस, नीरक्षीरविवेके, त्वम्, एव, आलस्यं, तनुपे, विश्वस्मिन्, अधुना, अन्यः कः, कुलव्रतं, पालयिष्यति।

शब्दार्थ—हंस = हे राजहंस! नीरक्षीरविवेके = जल और दू अलग करनेमें। त्वमेव = तुम ही। आलस्यं तनुपे चेत् = यदि आ करोगे तो। अधुना = अब। विश्वस्मिन् = संसारमें। अन्यः कः = दू कौन। कुलव्रतं = कुल परम्पराको। पालयिष्यति = पालन करेगा।

टीका—हे हंस = मराल! नीरं च क्षीरं च तयोर्विवेकः, त नीरक्षीरविवेके = जलदुग्धपृथक्करणे। त्वम् एव। आलस्यं = प्रम तनुपे = विस्तारयसि। चेत्। तर्हि। विश्वस्मिन् = संसारे। अधुना साम्प्रतं। अन्यः = इतरः कः जनः कुलस्य व्रतं = वंशमर्यादां। प यिष्यति = रक्षिष्यति। न कोऽपीत्यर्थः।

भावार्थ—हे हंस! तुम ही यदि दूधका दूध पानीका पानी क आलस्य करने लगोगे तो इस संसारमें फिर कुलक्रमागत परम्परा निर्वाह कौन करेगा।

टिप्पणी—विख्यात और प्रभावशाली व्यक्तिको अपने कर्त उपेक्षा नहीं करनी चाहिये, इसी भावको इस अन्योक्ति द्वारा व्यक्त गया है। हंसके विषयमें प्रसिद्ध है कि दूध और पानी मिलाकर सम्मुख रख देनेसे वह उसमेंसे दूध पी जाता है पानीका अंश छोड़ देता

तुलना०—हंसः श्वेतो वकः श्वेतः को भेदो वकहंसयोः।
नीरक्षीरविवेकेन हंसो हंसो वको वकः॥

इसीको लेकर न्यायी शासकके विषयमें भी लोग कहा करते हैं अमुक व्यक्ति तो दूधका दूध पानीका पानी कर देता है। अ समुचित न्याय कर देता है। ऐसे श्रेष्ठ व्यक्ति ही यदि अपनी म पालन करनेमें चूकेंगे तो फिर साधारण व्यक्तियोंकी वात ही क्या क्योंकि साधारण जन सर्वदा श्रेष्ठों का ही अनुसरण करते हैं।

इस पद्यमें भी काव्यलिङ्ग अलंकार और आर्याछन्द है॥१

उपरि करवालधाराकाराः क्रूराः भुजङ्गमपुङ्गवात् ।
अन्तः साक्षाद्द्राक्षादीक्षागुरवो जयन्ति केऽपि जनाः ॥१३॥

अन्वय—उपरि, करवालधाराकाराः, भुजङ्गमपुङ्गवात्, क्रूराः, अन्तः, साक्षाद्द्राक्षादीक्षागुरवः, के, अपि, जनाः, जयन्ति ।

शब्दार्थ—उपरि = ऊपरसे (अर्थात् बाहरसे)। करवालधाराकाराः = तलवारकी धारके समान आकारवाले। भुजङ्गमपुंगवात्=नागराजसे (भी)। क्रूराः = भयंकर। (और) अन्तः = भीतरसे (अर्थात् हृदयसे)। साक्षात् = प्रत्यक्ष। द्राक्षादीक्षागुरवः = द्राक्षा = (दाख = मुनक्का) को भी मधुरता सिखानेवाले। केऽपि जनाः = वे कोई भी व्यक्ति। जयन्ति = सर्वश्रेष्ठ हैं।

टीका—ये जनाः। उपरि = वहिः। करवालः = खड्गः तस्य धारा इव आकारः = आकृतिः येषां ते, व्यक्तरोपा इत्यर्थः। भुजाभ्यां गच्छन्तीति भुजङ्गमाः=सर्पाः, तेषु पुङ्गवः = श्रेष्ठस्तस्मात् = सर्पराजाद्। अपि, क्रूराः = भयप्रदाः भवन्ति। किन्तु। अन्तः = अन्तःकरणेनेत्यर्थः। साक्षात् = प्रत्यक्षं द्राक्षाणां = मृद्वीकानाम् अपि दीक्षागुरवः = उपदेशदेशिकाः। द्राक्षातोऽप्यतिमधुरा इत्यर्थः। एवं भूताः भवन्ति। ते के = केचन, अपि, जनाः = सज्जना इतियावत्, जयन्ति = सर्वोत्कर्षेण वर्तन्ते।

भावार्थः—वाहरसे देखनेमें खड्गकी धारके समान तीक्ष्ण और सर्पराजकी भाँति भयङ्कर होनेपर भी जिनका अन्तःकरण कोमल होता है ऐसे सज्जनों की जय हो।

टिप्पणी—यह कोई आवश्यक नहीं कि कोई व्यक्ति वाहरी व्यवहारमें रूखा है तो वह अन्तःकरणसे भी कठोर ही होगा। ऊपरसे देखनेमें

रूक्ष होते हुए भी जो हृदयसे किसीका बुरा नहीं चाहता, ऐसा व्यक्ति सर्वश्रेष्ठ है।

तुलना०—वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि।
लोकोत्तराणां चेतांसि को हि विज्ञातुमर्हति ॥

साक्षाद्द्राक्षादीक्षागुरवः—का अर्थ है कि द्राक्षाने भी मधुरता और कोमलता जिनके अन्तःकरणसे सीखी है। अर्थात् यह अत्यन्त ही कोमल और मधुर है।

यह अन्योक्ति नहीं प्रत्युत सामान्यतः सज्जन व्यक्तिकी प्रशंसामात्र है। इसमें प्रतीप अलंकार है लक्षण—"प्रतीपमुपमानस्योपमेयत्व-प्रकल्पनम्" (चन्द्रा०)। यह गीतिछन्द है, लक्षण—"आर्या प्रथमार्धसमं यस्या अपरार्धमाह तां गीतिम्" (छन्दोमंजरी) ॥१३॥

स्वच्छन्दं दलदरविन्द ते मरन्दं
विन्दन्तो विदधतु गुञ्जितं मिलिन्दाः।
आमोदानथ हरिदन्तराणि नेतुं
नैवान्यो जगति समीरणात्प्रवीणः ॥१४॥

अन्वय—दलदरविन्द, ते, मरन्दं, स्वच्छन्दं, विन्दन्तः, मिलिन्दाः, गुञ्जितं, विदधतु, अथ, आमोदान्, हरिदन्तराणि, नेतुं, जगति, समीरणात्, प्रवीणः, अन्यः, न एव।

शब्दार्थ—दलदरविन्द = हे खिलते हुए कमल! ते = तुम्हारे। मरन्दं = परागको। स्वच्छन्दं = इच्छाभर। विन्दन्तः = पाते हुए। मिलिन्दाः = भौंरे। गुञ्जितं = गुञ्जारको। विदधतु = करें। अथ = किन्तु। आमोदान् = (तुम्हारे) मनोहर सुगन्धोंको। हरिदन्तराणि = भिन्न-भिन्न दिशाओं में। नेतुं = ले जानेके लिये। जगति = संसारमें। समीरणात् = वायुसे। प्रवीणः = कुशल। अन्यः = दूसरा। न एव = नहीं ही है।

टीका—दलन् = विकसंश्चासौ अरविन्दश्च तत्सम्बुद्धौ हे दलंदर-विन्द = विकसित कमल ! ते = तव। मरन्दं = मकरन्दमिति यावत्। स्वच्छन्दं यथास्यात्तथा = यथेच्छमित्यर्थः। विन्दतः = लभन्तः। मिलिन्दाः = भ्रमराः, गुञ्जितं = गुञ्जारवं विदधतु = कुर्वन्तु। अथ = किन्तु। आमोदान् = आसमन्तात् मोदन्ते जनाः यैस्तान् सुगन्धान् (गन्धे जनमनोहरे आमोदः—अमरः) हरितां = दिशामन्तराणि = मध्यानि दिगन्तपर्यन्तमित्यर्थः। नेतुं = प्रापयितुं। जगति = संसारे, समीरणात् = पवनात्। प्रवीणः = निपुणः। (प्रवीणे निपुणाभिज्ञविज्ञनिष्णातशिक्षिताः —अमरः) अन्यः = इतरः, न एव, नास्त्येवेत्यर्थः।

भावार्थ—हे विकसित कमल ! तुम्हारे झरते परागका यथेच्छ आस्वादन करनेवाले ये भौंरे तुम्हारे आसपास भलेही गुनगुनाया करें। किन्तु दशों दिशाओंमें तुम्हारी सुगन्धको फैलानेमें तो वायुके सिवा दूसरा कोई निपुण नहीं।

टिप्पणी—यह पद्य 'अयि दलदरविन्द०' इस चतुर्थ पद्यका ही रूपान्तर है।

यह प्रहर्षिणी छन्द है— "म्नौ ज्रौ गस्त्रिदशयतिः प्रहर्षिणीयम्" (वृत्त०) म न ज र गुरु। इसमें हर १३ पर विराम होता है ॥१४॥

याते मय्यचिरान्निदाघमिहिरज्वालाशतैः शुष्कतां
गन्ता कं प्रति पान्थसन्ततिरसौ सन्तापमालाकुला।
एवं यस्य निरन्तराधिपटलैर्नित्यं वपुः क्षीयते
धन्यं जीवनमस्य मार्गसरसो धिग्वारिधीनां जनुः ॥१५॥

अन्वय—मयि, निदाघमिहिरज्वालाशतैः, अचिरात्, शुष्कतां, याते, संतापमालाकुला, असो, पान्थसन्ततिः, कं प्रति, गन्ता, एवं,

निरन्तराधिपटलैः, यस्य, वपुः, नित्यं, क्षीयते, अस्य, मार्गसरसः, जीवनं, धन्यं, वारिधीनां, जनुः, धिक् ।

शब्दार्थ—मयि = मेरे । निदाघमिहिर = ग्रीष्मकालीन सूर्यकी, ज्वालाशतैः = सैकड़ों लपटोंसे । अचिरात् = शीघ्र ही । शुष्कतां याते = सूख जानेपर । सन्तापमालाकुला = दुःखकी परम्पराओंसे व्याकुल । असौ = यह । पान्थसन्ततिः = पथिकोंका समूह । कं प्रति = किसके पास । गन्ता = जायगा । एवं = इसप्रकार । निरन्तराधिपटलैः = निरन्तर मानसिक चिन्ताओंके समूहसे । यस्य वपुः = जिसका शरीर । नित्यं = प्रतिदिन । क्षीयते = क्षीण हो रहा है । अस्य = इस । मार्गसरसः = रास्ते में पड़नेवाले तालावका । जीवनं धन्यं = जीवन धन्य है । वारिधीनां = समुद्रका । जनुः = जीवन (तो) । धिक् = धिक्कार है ।

टीका—मयि = मार्गसरसि । निदाघः = ग्रीष्मः तस्मिन् यो मिहिरः = सूर्यः (ग्रीष्म उष्मकः निदाघ उष्णोपगमः इति, सूरसूर्यार्यमादित्य... मिहिरारुणपूषणाः, इति च-अमरः) तस्य ज्वालानां शतं तैः=ग्रीष्मकालीनोष्णरश्मिजन्यातपार्चिसमूहैः । अचिरात् = शीघ्रमेव । शुष्कतां = नीरसतां । याते = प्राप्ते, सति । असौ = दूरस्था । संतापमालाकुला संतापमालया आकुला = आतपावलितरलिता पथिगच्छन्तीति पान्थाः पथिकाः तेषां सन्ततिः = परम्परेत्यर्थः । जीवनयाचनार्थं कं प्रति = कस्य वदान्यस्य समीपे, गन्ता = यास्यति । एवं निरन्तरं = निर्बाधम् आधीनां = मनोव्यथानां पटलानि = समूहाः तैः (पुंस्याधिर्मानसीव्यथा इति, क्लीवं समूहे पटलम् इति च-अमरः) यस्य वपुः = शरीरं क्षीयते = दुर्वलं भवति अस्य = एवं भूतस्य । मार्गे यः सरः तस्य मार्गसरसः = पथस्थतडागस्य जीवनं = जनिः धन्यं = प्रशस्यतरं । वारिधीनां = सागराणां जनुः = जन्म तु धिक् = अप्रशस्यमेवेतिभावः ।

भावार्थ— ग्रीष्मकालीन सूर्यकी प्रचण्डकिरणोंसे शीघ्र ही मेरे सूख जानेपर इन वेचारे पथिकोंका समूह जलकी याचना करने किसके पास

जायगा ? इस मनोव्यथासे जिसका शरीर क्षीण होता जा रहा है, ऐसे मार्ग-के समीपस्थ तालावका ही जीवन धन्य है। अपार जलराशि होनेपर भी किसीके उपयोगमें न आनेवाले समुद्रोंका जन्म तो धिक्कार ही है।

टिप्पणी—अल्प सामर्थ्य होनेपर भी परोपकारकी भावना रखने-वाले व्यक्तिका जीवन प्रशंसनीय है और प्रचुर ऐश्वर्यशाली होनेपर भी जो दूसरोंके काम नहीं आता वह निन्दनीय ही है, इसी भावको इस अन्योक्ति द्वारा व्यक्त किया है। समुद्रकी अपेक्षा मार्गस्थ तालावकी सामर्थ्य वहुत ही अल्प है, फिर भी उसे निरन्तर यह चिन्ता रहती है कि वेचारे पथिक उस समय कहाँ जायँगे जवकि ग्रीष्मके प्रचण्ड आतपसे मैं सूख जाऊँगा। क्योंकि संतप्त होनेपर ये मेरा जल पीकर ही अपना संताप मिटाते हैं। इस चिन्तासे मानों वह ग्रीष्मके आनेसे पूर्व ही क्षीण होने लगा है। ऐसा परोपकारी यह धन्य है। किन्तु सारे विश्वकी अपार जलराशिको अपनेमें समेटे रहनेपर भी जो क्षार होनेसे अपेय है और किसी काम नहीं आ सकता उस समुद्रसे क्या लाभ।

यहाँ भी काव्यलिङ्ग अलंकार ही प्रधान है। क्योंकि सरोवरके क्षीण होने रूप अर्थका समर्थन पथिकजनके प्रति होनेवाली चिन्तासे किया गया है। शार्दूलविक्रीडित छन्द है (लक्षण दे० ३) ॥१५॥

आपेदिरेऽम्बरपथं परितः पतङ्गा
भृङ्गा रसालमुकुलानि समाश्रयन्ति।
संकोचमञ्चति सरस्त्वयि दीनदीनो
मीनो नु हन्त कतमां गतिमभ्युपैतु ॥१६॥

अन्वय—सरः, त्वयि, संकोचम्, अञ्चति, पतङ्गाः, परितः, अम्बरपथम्, आपेदिरे, भृङ्गाः, रसालमुकुलानि, समाश्रयन्ति, दीनदीनः, मीनः, नु, हन्त, कतमां, गतिम्, अभ्युपैतु।

शब्दार्थ—सरः = हे तालाव ! त्वयि = तुम्हारे। संकोचम् अञ्चति = सिकुड़ जानेपर (अर्थात् सूख जानेपर)। पतङ्गाः = (हंस आदि) पक्षी। परितः = चारों ओर। अम्वरपथं = आकाशमार्गमें। आपेदिरे = प्राप्त हो गये (अर्थात् उड़ गये)। भृङ्गाः = भौंरे। रसालमुकुलानि = आमकी वौरोंमें। समाश्रयन्ति = चले जा रहे हैं। नु = किन्तु। हन्त = खेद है कि। दीनदीनः = अत्यन्त दीन (वेचारी)। मीनः = मछली। कतमां गतिं = किस दशाको। अभ्युपैतु = प्राप्त होगी।

टीका—हे सरः = सरोवर ! त्वयि। संकोचं = शुष्कत्वम्। अञ्चति = गच्छति सति, पतङ्गाः = पक्षिणः हंससारसादयः (पतङ्गः पक्षिसूर्ययोः-हेमः) परितः = समन्तात्। अम्बरपथम् = आकाशमार्गम्। आपेदिरे = प्राप्ताः। भृङ्गाः = भ्रमराः। रसालानाम् = आम्राणां (आम्रश्चूतो-रसालोऽसौ—अमरः) मुकुलानि = मञ्जरीरित्यर्थः। समाश्रयन्ति = प्राप्नुवन्ति। किन्तु नु हन्त इति खेदे। दीनदीनः = दीनेभ्योऽपि दीनः अतीव दीन इतिभावः। मीनः = मत्स्यः कतमां = कां वा गतिं = दशाम् अभ्युपैतु = गच्छतु। त्वदुदकप्राचुर्यं हित्वा गत्यन्तराभावात् नाशमेष्य-तीति भावः।

भावार्थ—हे सरोवर ! ग्रीष्मके संतापसे तुम्हारे जलका ह्रास हो जानेपर हंसादिपक्षी तो आकाशमें उड़ जायेंगे। रसलुब्ध भ्रमर आमके वौरोंमें जा लिपटेंगे। किन्तु अनन्यगतिक वेचारा मीन कहाँ जाय।

टिप्पणी—सरोवरको सम्वोधित करके कथित इस अन्योक्तिद्वारा कविने आश्रयदाताके प्रति अपनी अनन्यगतिकता दर्शायी है। अर्थात् विपत्कालमें तुम्हारे क्षीण हो जानेपर अन्य स्वार्थी और अवसरवादी लोग तो दूसरा आश्रय ढूँढ लेंगे, किन्तु जो तुम्हारे विना जी नहीं सकता उस वेचारेकी क्या दशा होगी। उसके लिये मृत्युके सिवा दूसरा चारा नहीं। अतः तुम्हें अपने इस अनन्यगतिक शरणागतकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। इससे यह भी ध्वनि निकलती है कि ये पक्षी और भौंरे,

जिन्हें तुम अपना मित्र समझे बैठे हो, केवल सम्पत्कालके साथी हैं। विपत्तिके समय तुम्हारा साथ देनेवाले नहीं हैं। तुम्हारे क्षीण होनेपर तुम्हारे ही पङ्कमें अपना जीवन दे देनेवाला मीन ही तुम्हारा वास्तविक मित्र है। इस अन्तरको समझो।

इस पद्यमें प्रत्येक विशेषण साभिप्राय है अतः परिकर अलंकार है। वसन्ततिलका छन्द है। लक्षण—उक्ता वसन्ततिलका त भ जा ज गौ गः (वृत्त०)। इसमें ८।६ पर विराम होता है ॥१६॥

मधुप इव मारुतेऽस्मिन्
मा सौरभलोभमम्बुजिनि मंस्थाः।
लोकानामेव मुदे
महितोऽप्यात्माऽमुनार्थितां नीतः ॥१७॥

अन्वय—हे अम्बुजिनि! मधुप, इव, अस्मिन्, मारुते, सौरभ-लोभं, मा, मंस्थाः, अमुना, लोकानां, मुदे, एव, महितः, अपि, आत्मा, अर्थितां, नीतः।

शब्दार्थ—अम्बुजिनि = हे कमलिनि! मधुप इव = भौंरेकी तरह। अस्मिन् = इस। मारुते = वायुमें। सौरभलोभं = सुगन्धके लोभको। मा मंस्था = मत समझो। अमुना = इस (वायु) ने। लोकानां = लोगोंकी। मुदे एव = प्रसन्नताके लिये ही। महितः अपि = पूजनीय भी। आत्मा = (अपने) देहको। अर्थितां = याचकताको। नीतः = प्राप्त कराया है।

टीका—हे अम्बुजिनि = कमलिनि! मधु पिवतीति मधुपः = भ्रमर इव। अस्मिन् = संप्राप्ते। मारुते = वायौ। सुरभेर्भावः सौरभं तस्य लोभः तं = सुगन्धवितरणकार्पण्यमित्यर्थः। मा मंस्थाः = न कुर्याः। यतः। अमुना = मरुता, लोकानां = जनानां, मुदे = हर्षाय। एव। महितः = पूजनीयः, अपि, आत्मा = स्वदेहः (आत्मा चित्ते धृतौ यत्ने

धिषणायां कलेवरे—हेमः)। अर्थितां = याचकत्वं नीतः = प्रापितः। लोकेभ्यस्त्वत्सौगन्ध्यवितरणाकांक्षी त्वत्समीपमागतः ननु मधुप इव स्वोदरपरिपूरणेच्छुः, इति भावः।

भावार्थ—हे कमलिनि ! जिस प्रकार (रात्रिमें मुकुलित होकर) अपने परिमलको भ्रमरोंसे बचा लेती हो ऐसा ही लोभ इस पवनके लिये न करना। क्योंकि इसने तो संसारकी प्रसन्नताके लिये ही अपने महान् देहको याचक बनाया है।

टिप्पणी—कोई सम्पन्न व्यक्ति स्वार्थियोंको देखकर दान करनेसे भलेही मुकर जाय; किन्तु लोकहितके लिये याचना करनेवालोंसे उसे मुँह नहीं मोड़ना चाहिये इसी भावको इस अन्योक्तिद्वारा व्यक्त किया है। भौंरे तुम्हारा पराग लेकर केवल अपना पेट भरते हैं। रात्रिमें मुकुलित होकर यदि तुम इनसे उसको बचा लेती हो तो उचित ही है, किन्तु पवन-को अपना कुछ भी स्वार्थ नहीं। वह तो संसारको सुगन्धित करनेके लिये ही तुम्हारे परिमलकी याचना करता है। अतः इसे देनेमें तुम्हें संकोच नहीं करना चाहिये। इससे यह भी ध्वनित होता है कि भौंरोंसे तुम्हारा कुछ भी उपकार होनेका नहीं; किन्तु यह तो तुम्हारे गुणोंसे संसारको परिचित कराता है अतः उपकारी है। इसे मुक्तहस्त होकर यथेच्छ देना ही चाहिये।

यहाँ महान् आत्मा को याचक बनाने रूप अर्थका समर्थन, लोक-कल्याणके लिये ही, यह कह कर किया गया है अतः काव्यलिंग अलंकार है। गीति छन्द है (लक्षण दे० श्लो० १३) ॥१७॥

गुञ्जति मञ्जु मिलिन्दे मा मालति मौनमुपयासीः।
शिरसा वदान्यगुरवः सादरमेनं वहन्ति सुरतरवः ॥१८॥

अन्वय—मालति ! मञ्जु, गुञ्जति, मिलिन्दे, मौनं, मा, उपयासीः, वदान्यगुरवः सुरतरवः, एनं, सादरं, शिरसा, वहन्ति।

शब्दार्थ—मालति = हे मालती ! मञ्जु गुञ्जति = मधुर गुंजार करते हुए। मिलिन्दे = भौंरेके विषयमें। मौनं = मौनको। मा उपयासीः = मत प्राप्त होना। वदान्यगुरवः = दाताओंमें श्रेष्ठ। सुरतरवः = कल्पवृक्ष। एनं = इस (भौंरे) को। सादरं = आदरपूर्वक। शिरसा वहन्ति = सिरसे धारण करते हैं।

टीका—हे मालति = जातीपुष्प ! (सुमना मालती जातिः—अमरः), मञ्जु = मनोहरं यथास्यात्तथा। गुञ्जति—गुञ्जारवं कुर्वति। मिलिन्दे = भ्रमरे, मौनं = तूष्णीभावं, मा उपयासीः = नैव कुर्याः इत्यर्थः। यतः वदान्यानां = दानशीलानां गुरवः = श्रेष्ठाः दातृप्रवरा इत्यर्थः (वदान्यः प्रियवाग्दानशीलयोरुभयोरपि—हेमः) सुरतरवः = देवद्रुमाः (पंचैते देवतरवो मन्दारः पारिजातकः। सन्तानः कल्पवृक्षश्च पुंसि वा हरिचन्दनम्—अमरः) एनं = मिलिन्दं, सादरम् = आदरपूर्वकम्, शिरसा वहन्ति = मस्तके धारयन्ति।

भावार्थ—हे मालती ! मधुर गुञ्जन करनेवाले इस भ्रमरके विषयमें तुम मौन न रहना; अर्थात् यह रस ग्रहण करने आवे तो देनेमें संकोच न करना। क्योंकि दाताओंमें श्रेष्ठ कल्पवृक्ष भी आदरपूर्वक इसे मस्तकपर वहन करते हैं।

टिप्पणी—इस अन्योक्ति द्वारा मालतीको चेतावनी देते हुए भ्रमर-का रूपक देकर कविने अपना महत्त्व सूचित किया है। हे मालती ! "सम्भवतः इसे अन्यत्र कहीं रस-प्राप्ति नहीं होती इसलिये मेरे पास आया है" ऐसा भ्रमरके विषयमें भूलकर भी मत सोचना। यह तो इतना महत्त्वशाली है कि, संसार जिनकी चाह करता है वे कल्पवृक्ष भी आदर-पूर्वक अपने मस्तकपर (शिखर स्थानीय फूलोंपर) बैठाकर इससे रस ग्रहण करवाते हैं। वदान्य शब्दका अर्थ है—माँगनेवालेकी इच्छासे भी अधिक देनेवाला। (वद + अन्य = और माँगों और माँगों कहने वाला)। तुलना०—रघुवंश ५।२४—"गतो वदान्यान्तरमित्ययं मे माभूत्

परीवादनवावतारः"। मालति ! यह स्त्रीलिङ्गका सम्बोधन उसकी अल्पज्ञता और अविवेकिताका द्योतक है।

इस पद्यमें मौन और शिरःपद लक्षणया श्लेष अलंकार को व्यक्त करते हैं। आर्या छन्द है (लक्षण श्लो० ५) ॥१८॥

यैस्त्वं गुणगणवानपि सतां द्विजिह्वैरसेव्यतां नीतः।
तानपि वहसि पटीरज किं कथयामस्त्वदीयमौन्नत्यम् ॥१९॥

अन्वय—पटीरज ! गुणगणवान्, अपि, त्वं, यैः, द्विजिह्वैः, असेव्यतां, नीतः, तान्, अपि, वहसि, त्वदीयम, औन्नत्यं, किं, कथयामः।

शब्दार्थ—पटीरज = हे चन्दन ! गुणगणवान् अपि = गुणसम्पन्न होनेपर भी। त्वं = तुम। यैः द्विजिह्वैः = जिन सर्पोंके कारण। असेव्यतां नीतः = असेवनीय हो गये हो। तान् अपि = उन (सर्पों) को भी। वहसि = धारण करते हो। त्वदीयम् = तुम्हारी। औन्नत्यं = महत्ताको। किं कथयामः = क्या कहें।

टीका—हे पटीरज = मलयज चन्दनेत्यर्थः। गुणानां = शीतलत्व-सौरभ्यादीनां गणः = समूहः अस्यास्तीति तद्वान् = सर्वगुणसम्पन्नो-ऽपीत्यर्थः। त्वं यैः = प्रसिद्धैः। द्वे = द्विसंख्याके जिह्वे = रसने येषां तैः द्विजिह्वैः = भुजंगमैः, खलैरिति ध्वन्यते। न सेवितुं योग्यः असेव्यः तस्य भावः तत्ता, ताम् असेव्यतां = सेवयितुमयोग्यतां, नीतः = प्रापितः। तान् = एवंभूतान्। अपि त्वं वहसि = धारयसि। त्वदीयं = त्वत्संवन्धि औन्नत्यं = महत्त्वं। किं कथयामः = कैः शब्दैर्वर्णयामः।

भावार्थ—हे चन्दन ! जिन विषधर भुजंगमोंने तुम्हें सज्जनोंसे असेवनीय वना दिया है अर्थात् जिनसे लिपटे रहनेके कारण सज्जनलोग तुम्हारे पास आनेमें डरते हैं, उन्हें ही धारण किये रहते हो। तुम्हारी इस महत्ताका हम क्या वर्णन करें।

टिप्पणी—अपने सद्गुणोंके कारण जो जितना प्रसिद्ध होता है और अधिकसे अधिक लोग जिसकी चाह करते हैं वह उतनेही खलोंसे (पिशुनोंसे) भी घिरा रहता है। परिणामतः सज्जन लोग उसके पास तक पहुँचने ही नहीं पाते। किन्तु उसका स्वभाव ही ऐसा शीतल और स्नेहमय होता है कि खलोंकी खलताको जानता हुआ भी वह उन्हें दुत्कारता नहीं। यह उसकी महिमशालिता ही है कि वह उन्हें आश्रय-हीन नहीं बनाता। इसी भावको लेकर यह अन्योक्ति कही गयी है। पटीरज यह लाक्षणिक शब्द है (देखिये श्लो० ११की टिप्पणी)। द्विजिह्व शब्द स्पष्टतः पिशुनका वाचक होनेसे श्लेष अलंकारका प्रदर्शक है; किन्तु पटीरज यह सम्बोधन उसे ध्वनिरूप होनेके लिये विवश कर देता है।

यह व्याजस्तुति अलंकार है—"उक्तिर्व्याजस्तुतिर्निन्दास्तुतिभ्यां स्तुतिनिन्दयोः" (कुवलया०)। खलोंकी खलताको जानकर भी उन्हें आश्रय दिये रहते हो, बड़े ही उदारचरित हो। इस स्तुतिसे यह व्यक्त होता है कि प्रतिक्षण खलोंसे ही घिरे रहते हो अतः सज्जन तो तुम्हारे पास फटक भी नहीं पाते। ऐसे तुम्हारी क्या महत्ता कहें। आर्या-छन्द है ॥१९॥

अपनीतपरिमलान्तरकथे पदं न्यस्य देवतरुकुसुमे।
पुष्पान्तरेऽपि गन्तुं वाञ्छसि चेद् भ्रमर धन्योऽसि ॥२०॥

अन्वय—भ्रमर! अपनीतपरिमलान्तरकथे, देवतरुकुसुमे, पदं, न्यस्य, पुष्पान्तरे, अपि, गन्तुं, वाञ्छसि, चेत्, धन्यः, असि।

शब्दार्थ—भ्रमर=हे भौंरे! अपनीत=दूर कर दिया है, परि-मलान्तरकथे=दूसरे सुगन्धोंकी कथाको जिसने ऐसे। देवतरुकुसुमे= कल्पवृक्षके फूलमें। पदं न्यस्य=पैर रखकर। पुष्पान्तरेऽपि=दूसरे फूलोंमें भी। गन्तुं वाञ्छसि चेत्=जानेकी इच्छा करते हो तो। धन्योऽसि=तुम धन्य हो।

टीका—हे भ्रमर ! अपनीता = दूरीकृता परिमलान्तराणां = इतरामोदानां कथा = वार्ता येन तस्मिन् सर्वसुगन्धातिशयिनि इतिभावः। देवतरोः = कल्पवृक्षस्य कुसुमे = पुष्पे। पदं = चरणं। न्यस्य = निधाय। पुष्पान्तरे = तद्भिन्नकुसुमे इत्यर्थः। अपि। गन्तुं = यातुं। वाञ्छसि = ईहसे, चेत् तर्हि धन्यः = श्लाघनीयचरितः असि।

भावार्थः—हे भ्रमर ! अन्य सुगन्धित पदार्थोंकी वात भी जिसके सामने ठहर नहीं सकती ऐसे कल्पवृक्षके पुष्पोंपर पैर जमाकर भी यदि तुम दूसरे पुष्पोंसे भी रस लेना चाहते हो धन्य हो।

टिप्पणी—भ्रमरको सम्बोधित कर प्रयुक्त इस अन्योक्ति द्वारा कविने उन्हें फटकारा है जो या तो महान् व्यक्तियोंके सत्सङ्गको छोड़कर क्षुद्र व्यक्तियोंका साथ ग्रहण करते हैं या लोभके वश हुए अपने पदकी प्रतिष्ठाका ध्यान नहीं रखते। 'पदं न्यस्य' यह वाक्यांश महत्त्वपूर्ण है। सर्वातिशय सुगन्धिशाली कल्पतरु कुसुमको लात मारकर या उसपर अपना सिक्का जमाकर तुम दूसरे साधारण पुष्पसे इसकी आकांक्षा करते हो।

इसमें भी व्याजस्तुति ही अलंकार है। इतने प्रचुरसुगन्धमय पदार्थ का उपभोग करनेपर भी साधारण पुष्पसे भी पराग ले लेते हो तुम्हारे अन्दर अभिमानका लेश भी नहीं है, अतः महान् हो। इस स्तुतिके वहाने यह निन्दा व्यक्त होती है कि तुम्हारे लोभ या अविवेककी सीमा नहीं जो कि ऐसे उन्नत पदको छोड़कर साधारण पुष्पसे पराग लेने चले हो। यह भी आर्या छन्द है ॥२०॥

तटिनि चिराय विचारय विन्ध्यभुवस्तव पवित्रायाः।
शुष्यन्त्या अपि युक्तं किं खलु रथ्योदकादानम् ॥२१॥

अन्वय—तटिनि ! चिराय, विचारय, विन्ध्यभुवः, पवित्रायाः, तव, शुष्यन्त्या, अपि, रथ्योदकादानम्, किं, युक्तम्, खलु।

शब्दार्थ—तटिनि = हे नदी ! चिराय = दीर्घ काल तक । विचारय = सोचो । विन्ध्यभुवः = विन्ध्याचलसे उत्पन्न हुई । (अतः) पवित्रायाः = पवित्र । तव = तुम्हारा । शुष्यन्त्याः अपि = सूखती हुई का भी । रथ्योदकादानम् = रथ्याओं (नालियों) के जलको लेना । किं युक्तं खलु = क्या उचित है ?

टीका—हे तटिनि = सरिते ! (तरङ्गिणी शैवलिनी तटिनी ह्रादिनी धुनी-अमरः) चिराय = वहुकालं यावत् । विचारय = विचारं कुरु । विन्ध्याद्भवतीति, तस्याः विन्ध्यभुवः = विन्ध्याद्रेर्निःसृतायाः । अतएव । पवित्रायाः = पूतायाः । तव = नद्याः । शुष्यन्त्याः = शोषं गच्छन्त्या जलाभावमाप्नुवत्या इत्यर्थः । अपि । रथ्यानां = प्रतोलीनां यत् उदकं = जलं तस्य आदानं = ग्रहणं । किं युक्तं खलु = नैवोचितमितिभावः ।

भावार्थ—हे नदी ! देर तक सोचो कि विन्ध्यगिरिसे निकलती हुई तुम अतीव पवित्र हो तो भी सूखनेकी डरसे, वहते हुए गन्दे पनालोंका जल लेकर अपने स्वरूपको वनाये रखना, क्या तुम्हें उचित है ?

टिप्पणी—अपने स्वरूपको वनाये रखनेके लिये अनुचित साधनोंका उपयोग करना सज्जनोंके लिये उचित नहीं है, इसी भावको लेकर यह अन्योक्ति कही गयी है । नदी दूसरोंको स्वच्छ करती है । विन्ध्याचलसे निकलनेके कारण उसकी पवित्रता और भी महत्त्व रखती है । यदि वही नदी सूखने या जल कम हो जानेके भयसे गन्दे पनालोंका पानी लेकर वहने लगे तो उसका स्वरूप भलेही वना रहे; किंतु मलिनता हो जानेसे लोगोंकी दृष्टिमें उसका वह सम्मान न रह जायगा । इस पद्यमें अप्रस्तुत नदीके द्वारा प्रस्तुत किसी कुलीन व्यक्तिको निर्देश किया गया है अतः अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार है । आर्या छन्द है ॥२१॥

पत्रफलपुष्पलक्ष्म्या कदाप्यदृष्टं वृतं च खलु शूकैः ।
उपसर्पेम भवन्तं बर्बुर वद कस्य लोभेन ॥२२॥

अन्वय—बर्बुर ! पत्रफलपुष्पलक्ष्म्या, वृतं, कदापि, अदृष्टं, खलु, शूकैः, च, (वृतं) भवन्तं, कस्य, लोभेन, उपसर्पेम, वद ।

शब्दार्थ—बर्बुर = हे बबूल वृक्ष ! पत्रफलपुष्पलक्ष्म्या = पत्तों, फलों एवं फूलोंकी शोभासे । वृतं = युक्त । कदापि = कभी भी । अदृष्टं = न देखे गये । च = और । खलु = निश्चय ही । शूकैः = काँटोंसे (वृतं = व्याप्त) । भवन्तं = आपको । कस्य लोभेन = क्या पानेके लोभसे । उपसर्पेम = पास आवें ।

टीका—हे बर्बुर ! पत्राणि च पुष्पाणि च फलानि च तेषां लक्ष्मीः = शोभा, तया । वृतं = युक्तं, पत्रपुष्पफलपूर्णमित्यर्थः । कदापि = कस्मिन्नपि काले । अदृष्टं = अनवलोकितं । प्रत्युत शूकैः = कण्टकैः (शूकोऽस्त्री श्लक्ष्णतीक्ष्णाग्रः–अमरः) वृतम् = व्याप्तं । भवन्तं कस्य = वस्तुनः इति शेषः । लोभेन = प्राप्तीच्छया । वयम् । उपसर्पेम = आगच्छेम । इति त्वमेव । वद = कथय ।

भावार्थ—हे बबूल ! पत्र पुष्प या फलोंसे पूर्ण तो तुम्हें हमने कभी देखा नहीं, काँटोंसे तुम्हारी शाखाएँ भरी रहती हैं । भला, तुम्हीं बताओ किस लोभसे हम तुम्हारे पास आवें ?

टिप्पणी—दुष्टोंके पास सज्जन लोग क्यों जायँ । गुण तो उनमें होते नहीं, दोषोंसे वे घिरे रहते हैं । इसलिये उनसे कोई उपकार की संभावना नहीं, उलटे अपकारकी प्रतिक्षण आशंका रहती है । इसी भावको लेकर इस अन्योक्तिकी रचना हुई है कि ऐ बबूल ! पत्ते फूल या फल कुछ भी तुममें होता तो लोग तुम्हारे समीप आते । यह सब तो अलग रहा, तुम काँटोंसे घिरे रहते हो जिनमें उलझनेका डर लगा रहता है ।

इसमें भी अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार है । आर्या छन्द है ॥२३॥

एकस्त्वं गहनेऽस्मिन्
कोकिल न कलं कदाचिदपि कुर्याः ।
साजात्यशङ्कयाऽमी
न त्वां निघ्नन्ति निर्दयाः काकाः ॥२३॥

अन्वय—कोकिल ! एकः, त्वम् , अस्मिन् , गहने, कदाचिद् , अपि, कलं, न, कुर्याः, अमी, निर्दयाः, काकाः, साजात्यशङ्कया, त्वां, न, निघ्नन्ति ।

शब्दार्थ—कोकिल = हे कोयल ! त्वम् = तुम । एकः = अकेले । अस्मिन् गहने = इस वनमें । कदाचिद् अपि = कभी भी । कलं = मधुर कूजन । न कुर्याः = मत करना । अमी = ये । निर्दयाः काकाः = निठुर कौवे । साजात्यशङ्कया = अपना सजातीय (अर्थात् कौवा) समझकर । त्वां = तुमको । न निघ्नन्ति = (अभीतक) मार नहीं रहे हैं ।

टीका—हे कोकिल = पिक ! एकः = एकाकी, असहाय इत्यर्थः, त्वम् । अस्मिन् गहने = कानने (गहनं काननं वनम् —अमरः) कदाचिदपि = कस्मिन्नपि काले । कलम् अव्यक्तमधुरध्वनिं । न कुर्याः = मा कुरु । यतः । अमी = एते । निर्दयाः = निष्ठुराः । काकाः = वायसाः । समानायाः जातेर्भावः साजात्यं = समानजातित्वं तस्य शङ्कया = स्वकुलोद्भवभ्रान्त्या इत्यर्थः । एतावत्कालपर्यन्तं । त्वां न निघ्नन्ति = न नाशयन्ति ।

भावार्थ—हे कोकिल ! तुम अकेले ही इस वनमें कभी भी 'कुहू' शब्द मत करना; क्योंकि अपनी ही जातिका समझकर अभी तक इन निर्दयी कौवोंने तुम्हें मार नहीं डाला ।

टिप्पणी—जब दुर्जनोंसे पाला पड़ जाता है तो सज्जनको भी अपनी सज्जनताका प्रदर्शन न करके उन्हींमें मिले रहना चाहिये । अन्यथा वे तो दुष्ट हैं ही, उसे नष्ट ही कर डालेंगे । इसी भावको लेकर यह अन्योक्ति

कही गयी है। हे कोकिल ! अभी तक तुम्हारे काले स्वरूपको देखकर ये तुम्हें भी कौवा ही समझे हैं, किन्तु जहाँ तुम्हारे जगदाह्लादक 'कुहू' शब्दको ये दुष्ट सुनेंगे तो निश्चय ही तुम्हें मार डालेंगे। इसलिये जबतक कोई सहयोगी न मिले, तुम अकेले अपनी कला का प्रदर्शन मत करो; भले ही इन मूर्खोंके बीच तुम्हें मूर्ख ही बनकर रहना पड़े।

तुलना०–महाकवि गुमानीजीकी समस्या पूर्ति—

यस्मिन्देशे निर्गुणे निर्विवेके न क्वापि स्याद्वेदशास्त्रस्य चर्चा।
प्राज्ञः प्रज्ञाहीनवत्तत्र तिष्ठेत् "कीजै काणे देशमें आँख कानी ॥"

कौवे और कोकिलका स्वाभाविक वैर है; क्योंकि कोकिलका शब्द सबको प्रिय लगता है और कौवेका कर्णकटु। साथ ही यह भी प्रसिद्ध है कि कोकिल प्रसव होनेपर अपने अंडोंको कौवेके घोसलेमें रख देता है। वह मूर्ख उसे अपना ही अंडा समझकर पोसता है। जब पंख हो जाते हैं तो वह उड़कर अपने सजातीयोंमें मिल जाता है। और कौवा पछताता रह जाता है। इसीसे इनका स्वाभाविक वैर है।

कौवे अभी तक कोयलको भी कौवा ही समझे हैं, अतः इस पद्यमें भ्रान्तिमान् अलंकार है—"साम्यादतस्मिंस्तद्बुद्धिः भ्रान्तिमान् प्रतिभोत्थितः" (सा० द०)। आर्यागीति छन्द है (लक्षण देखें श्लोक १३) ॥२३॥

तरुकुलसुषमापहरां जनयन्तीं जगति जीवजातार्तिम्।
केन गुणेन भवानीतात! हिमानीमिमां वहसि ॥२४॥

अन्वय—भवानीतात ! तरुकुलसुषमापहरां, जगति, जीवजातार्तिं, जनयन्तीम्, इमां, हिमानीं, केन, गुणेन, वहसि।

शब्दार्थ—हे भवानीतात = हे पार्वतीके पिता (हिमालय!) तरुकुलसुषमापहरां = वृक्षसमूहकी अतिसुन्दर शोभाको नष्ट करनेवाली

जगति = संसारमें। जीवजातार्तिं = प्राणिमात्रकी पीड़ाको। जनयन्तीं = उत्पन्न करती हुई। इमां हिमानीं = इस हिम-राशिको। केन गुणेन = किस गुणके कारण। वहसि = धारण करते हो।

टीका—भवः = शिवः तस्य स्त्री भवानी = पार्वती तस्याः तातः = पिता, तत्सम्बुद्धौ हे भवानीतात = हे हिमालय! तरूणां = वृक्षाणां कुलं = समूहः, तस्य सुषमा = उत्कृष्टा शोभा (सुषमा परमा शोभा—अमरः) ताम् अपहरतीति ताम् = वृक्षावलिसौन्दर्यविनाशिनीमित्यर्थः। जगति = संसारे। जीवजातस्य = प्राणिमात्रस्य या आर्तिः = पीडा (आर्तिः पीडा-धनुःकोट्योः—अमरः) जनयन्तीम् = उत्पादयन्तीम्। इमां = परिदृश्य-मानां। हिमानीं = हिमसंघातं (हिमानी हिमसंहतिः—अमरः) केन गुणेन = कं गुणमभिलक्ष्य वहसि = शिरसा धारयसि।

भावार्थ—हे हिमालय! वृक्षोंकी सुन्दर हरियालीको नष्ट करनेवाले, संसारमें प्राणिमात्रको कम्पित करनेवाले इस हिमसमूहको तुमने कौन सा गुण देखकर धारण कर रक्खा है?

टिप्पणी—गुणज्ञ व्यक्तिका भी कभी कभी कोई कार्य अविवेकपूर्ण होता है इसी भावको हिमालयको सम्बोधित कर इस अन्योक्तिमें व्यक्त किया गया है। भवानीतात! यह सम्बोधन विशेष अर्थ रखता है। भवानी अर्थात् आदिशक्ति जगदम्बिका पार्वतीके पिता होनेपर भी तुममें इतना विवेक नहीं है कि तुम ऐसे सौंदर्य-नाशक और आर्तिदायक-को सिरपर धारण किये रहते हो। ऐसा क्यों करते हैं इसका समाधान भी इसी वाक्यांशमें मिल जाता है अर्थात् जब जगज्जननीके तात हो तो जगत्का प्रत्येक पदार्थ चाहे वह गुणी हो या अवगुणी तुम्हारे द्वारा संरक्षणीय ही है।

यह अन्योक्ति किसी ऐसे सम्पन्नव्यक्तिको भी लक्ष्य करती है जो सफेदपोश खलोंसे घिरा रहता है जिनके कारण सज्जनोंका उसके दरबार-में पहुँचना कठिन रहता है।

विशेषण साभिप्राय है अतः परिकर अलंकार है व्याजस्तुति नहीं। भवस्य स्त्री तथा हिमानां समूहः इन अर्थोंमें भव और हिम शब्दोंसे ङीप् प्रत्यय "इन्द्रवरुणभवशर्व···" (४।१।१९ पा.) से आनुक् आगम होकर भवानी और हिमानी शब्द बनते हैं। यहाँ इन दोनोंसे अनुप्रास अलंकार भी है। आर्या छन्द है ॥२४॥

कलभ तवान्तिकमागतमलिमेनं मा कदाप्यवज्ञासीः।

अपि दानसुन्दराणां द्विपधुर्याणामयं शिरोधार्यः ॥२५॥

अन्वय—कलभ ! तव, अन्तिकम्, आगतम्, एनम्, अलिं, कदापि, मा अवज्ञासीः, दानसुन्दराणां, द्विपधुर्याणाम्, अपि, अयं, शिरोधार्यः।

शब्दार्थ—कलभ = हे हाथीके बच्चे ! तव = तुम्हारे। अन्तिकं = पास। आगतं = आये हुए। एनं = इस। अलिं = भौंरेको। कदापि = कभी भी। मा अवज्ञासीः = अपमानित न करना। दानसुन्दराणां = अत्यन्तमदप्रवाहित होनेसे सुन्दर। द्विपधुर्याणाम् अपि = गजेन्द्रोंका भी। अयं = यह। शिरोधार्यः = शिरमें धारण करने योग्य है।

टीका—हे कलभ = करिशावक ! तव अन्तिकं = समीपम्। आगतं = प्राप्तं। एनम् अलिं = भ्रमरं। कदापि = कदाचिदपि। मा अवज्ञासीः = तिरस्कारविषयं मा कुर्याः। यतः। दानं = मदवारि तेन सुन्दरास्तेषां दानसुन्दराणाम् = अतिशयमदवारिप्रवर्तकानां। (दानं मतङ्गजमदे रक्षणच्छेदशुद्धिषु—हेमः) द्विपानां = हस्तिनां ये धुर्याः = धुरीणाः अग्रगण्या इत्यर्थः, तेषाम्। ('दन्ती दन्तावलो हस्ती द्विरदोऽनेकपो द्विपः' इति, 'धूर्वहे धुर्यधौरेयधुरीणाः सधुरन्धराः' इति च—अमरः) अपि। अयं = भ्रमरः शिरोधार्यः = शिरसा धारणीयः, वन्दनीय इत्यर्थः। अस्तीति शेषः।

भावार्थ—हे गजशावक! मद्वारिकी इच्छासे तुम्हारे समीप आनेवाले इस भ्रमरका तिरस्कार कभी न करना; क्योंकि बड़े-बड़े मदवाही श्रेष्ठ गजेन्द्र भी इसे अपने मस्तकपर धारण करते हैं अर्थात् अपने मस्तकपर बैठाकर इससे मदवारि ग्रहण करवाते हैं।

टिप्पणी—इसी भावको श्लोक ५ में व्यक्त कर चुके हैं! अन्तर केवल इतना ही है कि वहाँ कुटज सम्बोधनसे अत्यन्त जड़की अभिव्यक्ति होती थी यहाँ कलभ सम्बोधनसे चेतन होनेपर भी अज्ञता व्यक्त होती है। कलभ शब्द शिशु हाथीके लिये प्रयुक्त होता है। अर्थात् तुम अभी नादान बच्चे हो, इसका महत्त्व नहीं समझते। हाथी ज्यों-ज्यों जवान होता जाता है त्यों-त्यों उसका मदवारि अधिक निकलता है। जितना मदजल निकलता है उतना ही उसका रूप निखर आता है। अतः दानसुन्दराणां यह विशेषण दिया है। द्विपधुर्यका अर्थ है सामान्य हाथी इसे क्या समझेंगे जो श्रेष्ठ हाथी हैं वे ही इसकी महत्ताको समझकर इसे मदगन्ध द्वारा अपने मस्तकपर बैठनेका आमन्त्रण देते हैं। काव्यलिङ्ग अलंकार है क्योंकि तिरस्कार न करना रूप अर्थ का समर्थन द्विपधुर्यों-द्वारा आदरणीय होनेसे किया गया है। गीति छन्द है ॥२५॥

अमरतरुकुसुमसौरभसेवनसंपूर्णसकलकामस्य ।
पुष्पान्तरसेवेयं भ्रमरस्य विडम्बना महती ॥२६॥

अन्वय—अमरतरु···कामस्य, भ्रमरस्य, इयं, पुष्पान्तरसेवा, महती, विडम्बना।

शब्दार्थ—अमरतरु = देवद्रुम (कल्पवृक्ष) के, कुसुम = फूलोंकी, सौरभसेवन = सुगन्धके आस्वादनसे, संपूर्णसकलकामस्य = पूर्ण हो गये हैं सारे मनोरथ जिसके ऐसे। भ्रमरस्य = भौंरेकी। इयं = यह। पुष्पान्तरसेवा = दूसरे पुष्पोंपर जाना। महती विडम्बना = बड़ा हास्यास्पद है।

टीका—अमराणां = देवानां तरवः = वृक्षाः, कल्पवृक्षा इत्यर्थः। तेषां कुसुमानि = पुष्पाणि, तेषां सौरभः = सौगन्ध्यं तस्य सेवनेन = आस्वादनेन संपूर्णाः = सिद्धप्रायाः सकलाः = निखिलाः कामाः = मनोरथाः यस्य सः, तस्य = विहितसर्वातिशायिसुगन्धोपभोगस्येत्यर्थः। भ्रमरस्य = मधुपस्य। इयम् = एषा। पुष्पान्तरसेवा = परागलोभेनान्यत्पुष्पगमनम्। महती विडम्बना = अतीवोपहासविषया खलु।

भावार्थ—कल्पवृक्षोंके कुसुमोंकी अत्युत्कृष्ट सुगन्धका उपभोग करने से जिसकी सभी वासनाएँ तृप्त हो जानी चाहिये, ऐसा भ्रमर यदि दूसरे पुष्पसे रस लेना चाहे तो यह उसकी विडम्बना ही है।

टिप्पणी—महान्‌से महान् ऐश्वर्यका उपभोग करनेपर भी किसीकी वासना शान्त न हो और साधारण वस्तुके लिये ललचे तो वह निन्दाका ही पात्र है। इसी भावको इस अन्योक्ति द्वारा व्यक्त किया है। यों तो देवता ही सबकी कामना पूर्ण करनेमें समर्थ हैं, फिर कल्पवृक्ष तो देवताओंकी भी कामनाएँ पूरी करते हैं। उनके पुष्परसका यथेष्ट उपभोग करने पर भी यदि भ्रमर दूसरे पुष्पों की आकांक्षा करे तो उसे क्या कहा जाय। इसी भावको यद्यपि २० वें श्लोकमें कहा गया है किन्तु वहाँ भ्रमर धन्योऽसि कहकर व्याजस्तुति की गई है और यहाँ स्पष्ट ही महती विडम्बना कहकर उसका तिरस्कार किया है, अतः पुनरुक्ति नहीं है। केवल अन्योक्ति ही मुख्य अलंकार है। आर्या छन्द है ॥२६॥

पृष्टाः खलु परपुष्टाः परितो दृष्टाश्च विटपिनः सर्वे।
माकन्द न प्रपेदे मधुपेन तवोपमा जगति ॥२७॥

अन्वय—माकन्द! मधुपेन, परपुष्टाः, पृष्टाः, खलु, परितः, सर्वे, विटपिनश्च, दृष्टाः, जगति, तव, उपमा, न प्रपेदे।

शब्दार्थ—माकन्द = हे आम्रवृक्ष! मधुपेन = भौंरेने। परपुष्टाः = कोयलोंसे। पृष्टाः = पूछा। खलु = निश्चय ही। परितः = चारों ओर।

सर्वे विटपिनः च = सब वृक्षोंको भी। दृष्टाः = देखा। जगति = संसारमें। तव = तुम्हारे। उपमा = सादृश्यको। न प्रपेदे = (वह) नहीं पा सका।

टीका—हे माकन्द = आम्रतरो! (आम्रश्चूतो रसालोऽसौ सहकारोथ सौरभः। कामाङ्गो मधुदूतश्च माकन्दः पिकवल्लभः–अमरः) मधु पुष्परसं पिवतीति मधुपः = भ्रमरः तेन। परैः = इतरैः काकैरित्यर्थः पोष्यन्ते इति परपुष्टाः = कोकिलाः। पृष्टाः = प्रश्नविषयीकृताः। खलु = निश्चयेन सर्वे = निखिलाः। विटपाः शाखाः सन्ति येषां ते विटपिनः = वृक्षाः। परितः = समन्तात्। दृष्टाः = अवलोकिताः। अनुभूता इत्यर्थः। किन्तु तथापि। निखिलेऽपि जगति = संसारे। तव उपमा = त्वत्सादृश्यं। तेन न प्रपेदे = न प्राप्ता।

भावार्थ—हे आम्रवृक्ष! इस मधुपने अवश्य ही कोकिलोंसे पूछा, समीपवर्ती सभी वृक्षोंको चारों ओरसे देखा किन्तु तुम्हारे ऐसा इसे कोई दिखाई न दिया। (इसीसे यह तुम्हें छोड़कर अन्यत्र नहीं जाता)।

टिप्पणी—गुणोंकी चाहवाला व्यक्ति जब गुणीकी खोज करता है तो उसके निकटसम्पर्कमें रहनेवालोंसे अच्छी प्रकार जानकारी कर लेता है। अन्य गुणवानोंसे उसकी समता या वैशिष्ट्यको समझ लेता है। इसके वाद उसके पास जाता है और जब उसके सत्सङ्गका स्वाद उसे लग जाता है तो फिर उसे छोड़ वह अन्यत्र जानेका नाम भी नहीं लेता। यही भाव इस अन्योक्तिसे व्यक्त होता है। मधुप सम्वोधनसे ही स्पष्ट है कि वह मधुकी चाहवाला है। पूछता है कोकिलोंसे, वे परपुष्ट हैं अतः अवश्य ही सब विषयोंका ज्ञान रक्खेंगे। इसके वाद चारों ओर अन्य वृक्षोंका भी देखता है; किन्तु उसे इस प्रकार मकरन्दसे परिपूर्ण कोई वृक्ष नहीं दीख पड़ता।

प्रणयप्रकाशटीकाकार अच्युतरायने [मा लक्ष्मीः ब्रह्मविषयिणी प्रमा वा तस्याः कन्द इव मूलकारणमिव तत्सम्बुद्धौ हे माकन्द! ब्रह्मविद्याप्रद गुरो! इत्यर्थः। मधु ब्रह्म पिबतीति मधुपो मुमुक्षुः तेन। परपुष्टाः परैः लोकैः

स्वैहिकादिफलार्थं पुष्टाः पोषिता जना इति शेषः, पृष्टाः परितः सर्वे विटपिनः शाखावन्तः शाखाः तैत्तिरीयादयः दृष्टाः, तथापि त्वत्समं जगति न प्रपेदे। अर्थात्] "हे गुरो! मोक्षकी इच्छासे मैंने सभी शास्त्रज्ञोंसे पूछा, सभी इतर शाखावालोंको देखा, किन्तु तुम्हारे सदृश मुझे अन्य कोई नहीं दीखा।" यह अर्थ करके इसे श्लेष अलंकार माना है। वस्तुतस्तु इस अर्थको लेकर मधुपसे यह अन्योक्ति कही गयी है ऐसा कहा जाय तो संभव भी हो सकता है। परपुष्ट शब्द कोयलके लिए ही प्रसिद्ध है। देखिये शाकुन्तल—"प्रागन्तरिक्षगमनात्स्वमपत्यजातमन्यैर्द्विजैः परभृताः खलु पोषयन्ति" "परैः लोकैः पुष्टा जनाः" यह कष्टसाध्य अर्थ है। इसपर भी विटपिनः के स्थानमें शाखिनः पद होता तो किसी प्रकार श्लेष हो सकता था, अर्थकी खींचतान न करनी पड़ती। हमारी समझमें तो कविने भ्रमरकी इस अन्योक्तिद्वारा अपने आश्रयदाताकी प्रशंसा की है। अपने को पूर्ण गुणज्ञ और उसे पूर्ण गुणवान् सिद्ध किया है।

यह अनन्वय अलंकार है; क्योंकि सादृश्याभाव होने से माकन्द स्वयं उपमान है और स्वयं ही उपमेय। आर्या छन्द है ॥२७॥

तोयैरल्पैरपि करुणया भीमभानौ निदाघे
मालाकार व्यरचि भवता या तरोरस्य पुष्टिः।
सा किं शक्या जनयितुमिह प्रावृषेण्येन वारां
धारासारानपि विकिरता विश्वतो वारिदेन ॥२८॥

अन्वय—मालाकार! भवता, भीमभानौ, निदाघे, करुणया, अल्पैरपि, तोयैः, अस्य, तरोः, या, पुष्टिः, व्यरचि, सा, इह, विश्वतः, वारां, धारासारान्, विकिरता, अपि, प्रावृषेण्येन, वारिदेन, जनयितुम्, शक्या, किम्?

शब्दार्थ—मालाकार = हे माली! भवता = आपने। भीमभानौ = प्रचण्ड किरणोंवाले। निदाघे = ग्रीष्ममें। करुणया = दयासे। अल्पैः अपि = थोड़ेसे भी। तोयैः = जलोंसे। अस्य तरोः = इस वृक्षकी। या पुष्टिः = जो पोषण। व्यरचि = किया। सा = वह। इह = इस समय (वर्षाकालमें) विश्वतः = चारों ओर। वारां = जलोंके। धारासारान् = निरन्तर धारारूपको। विकिरता अपि = वरसाते हुए भी। प्रावृषेण्येन = वर्षाकालके। वारिदेन = मेघसे। जनयितुं शक्या किम् = उत्पन्न की जा सकती है क्या? (अर्थात् नहीं की जा सकती)।

टीका—हे मालाकार = मालिक! (मालाकारस्तु मालिकः— अमरः) "माली" इति भाषाप्रसिद्धोद्यानपालक इत्यर्थः। भवता, भीमाः = प्रचण्डाः भानवः = रश्मयः यस्य तस्मिन् तीक्ष्णातपे इतिभावः। (भानू रश्मिदिवाकरौ-अमरः) निदाघे = ग्रीष्मे। करुणया = स्नेहेन दयालुतया वा। अल्पैः = कूपादिभिर्निष्कासितैरत एव परिमितैः। अपि। तोयैः = जलैः अस्य = पुरो वर्तमानस्य। तरोः = वृक्षस्य, या पुष्टिः व्यरचि = यत्परिपोषणं कृतम्। सा = पुष्टिः। इह = अस्मिन् वर्षाकाले। विश्वतः = सर्वतः चतुर्दिगित्यर्थः। वाराम् = अपां (आपः स्त्री भूम्नि वार्वारि—अमरः) धाराणाम् = जलानाम् आसारान् = संभूयवर्षणम् (धारासम्पात आसारः-अमरः) विकिरता = प्रवर्षता अपि। प्रावृषेण्येन प्रावृषि = वर्षायां भवः प्रावृषेण्यः तेन = वर्षाकालोद्भवेन। वारिदेन = मेघेन। जनयितुम् = उत्पादयितुं। शक्या किम् = नैव शक्येत्यर्थः।

भावार्थ—हे माली! प्रचण्ड ग्रीष्मातपसे मुरझाये हुए इस वृक्षपर दया करके थोड़ेसे ही पानीसे इसे सींचकर तुमने जो पुष्टि प्रदान की, वह पुष्टि इस समय चारों ओर मूसलाधार वरसते हुए वर्षाकालीन मेघ से क्या कभी की जा सकती है? अर्थात् नहीं की जा सकती।

टिप्पणी—आपत्तिके समयकी थोड़ी सी सहायतासे भी जो बल मिलता है, सम्पत्तिकालकी वहुत वड़ी सहायता भी उसकी बरावरी नहीं

कर सकती। इसी भावको कविने इस अन्योक्ति द्वारा व्यक्त किया है। साथ ही चारों ओरसे तिरस्कृत कविद्वारा अपने आश्रयदाताकी स्तुति भी व्यक्त होती है।

ग्रीष्ममें मालीके थोड़े जलसे भी वृक्षका जो पोषण हुआ वह वर्षाकालीन मेघके अत्यन्त जलसे भी न हो सका। यह प्रतीप अलंकार है। मन्दाक्रान्ता छन्द है। "मन्दाक्रान्ता जलधिषडगैर्म्भौ नतौ ताद्‌गुरू चेत्" (वृत्त०) वर्षाकाल या उससे संवद्ध वर्णनके लिये मन्दाक्राता छन्द उपयुक्त होता है। "प्राव्रृट्‌-प्रवास-व्यसने मन्दाक्रान्तातिराजते।" (—क्षेमेन्द्र) ॥२८॥

आरामाधिपतिर्विवेकविकलो नूनं रसा नीरसा
वात्याभिः परुषीकृता दशदिशश्चण्डातपो दुःसहः।
एवं धन्वनि चम्पकस्य सकले संहारहेतावपि
त्वं सिञ्चन्नमृतेन तोयद कुतोप्याविष्कृतो वेधसा ॥२९॥

अन्वय—आरामाधिपतिः, विवेकविकलः, नूनं, रसा, नीरसा, दश दिशः, वात्याभिः, परुषीकृताः, चण्डातपः, दुःसहः, एवं, धन्वनि, चम्पकस्य, सकले, संहारहेतौ, अपि, तोयद, वेधसा, अमृतेन, सिञ्चन्, त्वं, कुतः, अपि, आविष्कृतः।

शब्दार्थ—आरामाधिपतिः = वगीचे का रक्षक (माली)। विवेकविकलः = विवेकसे शून्य (हो गया)। नूनं = निश्चय ही, रसा = पृथ्वी, नीरसा = रसहीन (हो गई)। दश दिशः = दसों दिशाएँ। वात्याभिः = ववण्डरोंसे। परुषीकृताः = रूखे कर दिये गये। चण्डातपः = प्रचण्ड धूप। दुःसहः = असह्य (हो गई)। एवं = इस प्रकार। धन्वनि = मरुदेशमें। चम्पकस्य = चम्पक वृक्षके। सकले = सम्पूर्ण। संहारहेतौ अपि = विनाशके कारण रहते हुए भी। तोयद = हे मेघ। वेधसा = विधाताने। अमृ-

तेन सिञ्चन् = अमृतसे सींचते हुए (अमृत वरसाते हुए)। त्वं = तुमको । कुतोऽपि = कहींसे । आविष्कृतः = प्रकट कर दिया ।

टीका—आरामस्य = उपवनस्य अधिपतिः = रक्षकः (मालीति भाषायाम्) (आरामः स्यादुपवनम्—अमरः) । विवेके विकलः = विचारहीनः संजातः, नूनं = निश्चयेन । रसा = पृथ्वी (भूर्भूमिरचलानन्ता रसा विश्वम्भरा स्थिरा–अमरः)। निर्गताः रसा जलानि यस्याः सा नीरसा = जलहीना इत्यर्थः । जाता । दश दिशः = पूर्वाद्याशासमूहः । वात्याभिः = चक्रवातैः (आंधी, ववण्डर इति भाषायाम्) अपरुषाः परुषाः कृता इति परुषीकृताः = रूक्षीकृताः । चण्डोऽतितीव्रः प्रकाशो यस्य सः चण्डातपः = तिग्मांशुः सूर्यः । दुःसहः = दुःखेन सोढुंशक्यो जातः । एवम = अनेन प्रकारेण । धन्वनि = मरुस्थले (समानौ मरुधन्वानौ—, अमरः) चम्पकस्य = एतन्नामकवृक्षस्य । सकले = सर्वस्मिन्नपि संहार-हेतौ = संहारकारणे एकीभूते सति । हे तोयद = मेघ ! वेधसा = ब्रह्मणा (ब्रह्मा प्रजापतिर्वेधा–अमरः)। अमृतेन = पीयूषेण सिञ्चन् = अभिषेकं कुर्वन्निव । त्वं । कुतः अपि आविष्कृतः = प्रकटीकृतः ।

भावार्थ—हे मेघ ! जब माली किंकर्तव्य-विमूढ़ हो गया था, पृथ्वी जलहीन हो गयी थी, दशों दिशाओंमें आँधी छा गयी थी, सूर्यका तेज असह्य हो रहा था और इस प्रकार मरुभूमिमें चम्पक वृक्षके लिये विनाशकी सारी सामग्री एकत्र उपस्थित थी, ऐसे समयमें अमृत वरसाते हुए जैसे तुमको, विधाताने कहींसे प्रकट कर दिया ।

टिप्पणी—जब विपत्तिका पहाड़ टूट पड़ा हो, चारों ओरसे विनाशके ही लक्षण दीख रहे हों और ऐसे समयमें अचानक पहुँचकर कोई सहा-यताका आश्वासन दे तो उसे ईश्वरका ही भेजा हुआ समझना चाहिये । इसी भावको इस अन्योक्तिसे व्यक्त किया है । पूर्व श्लोककी भाँति इससे भी कविद्वारा विपत्ति कालमें संरक्षण देनेवाले आश्रयदाताकी स्तुति ध्वनित होती है ।

इसे पद्यमें प्रहर्षण अलंकार है। क्योंकि विनाशके समय जहाँ रक्षामात्र की चम्पकको आवश्यकता थी वहाँ अमृत सींचते हुए तोयद-का आविष्कार कर विधाताने और भी उसे सुदृढ़ कर दिया 'वाञ्छिता-दधिकार्थस्य संसिद्धिश्च प्रहर्षणम्' (कुवलया०)। शार्दूलविक्रीडित छन्द है (लक्षण दे० श्लोक ३) ॥२९॥

न यत्र स्थेमानं दधुरतिभयभ्रान्तनयनाः
गलद्दानोद्रेकभ्रमदलिकदम्बाः करटिनः ॥
लुठन्मुक्ताभारे भवति परलोकं गतवतो
हरेरद्य द्वारे शिव शिव शिवानां कलकलः॥३०॥

अन्वय—अतिभयभ्रान्तनयनाः, गलद्दानोद्रेकभ्रमदलिकदम्बाः, करटिनः, यत्र, स्थेमानं, न दधुः, लुठन्मुक्ताभारे, परलोकं, गतवतः, हरेः, द्वारे, अद्य, शिव शिव, शिवानां, कलकलः।

शब्दार्थ—अतिभयभ्रान्तनयनाः = अत्यन्त डरके कारण घूम रही हैं आँखें जिनकी ऐसे। गलद्दानोद्रेक = बहते मदजलके प्रवाहमें, भ्रमदलिकदम्बाः = घूम रहा है भौंरोंका झुण्ड जिनके ऐसे। करटिनः = हाथी। यत्र = जहाँ। स्थेमानं = स्थिरताको। न दधुः = नहीं धारण कर सके। लुठन् मुक्ताभारे = लुढ़क रहे हैं मोतियोंके ढेर जिसमें ऐसे। परलोकं गतवतः हरेः = मृत्युको प्राप्त सिंहके। द्वारे = (गुफा) द्वारपर। अद्य = आज। शिवशिव = हे भगवन्। शिवानां = सियारोंका। कलकलः = हुआं हुआं ध्वनि (हो रही है)।

टीका—अतिशयितेन भयेन भ्रान्ते = चकिते नयने येषां ते अतिभयभ्रान्तनयनाः = अत्यन्तभीतिचकित (त्रस्त) नेत्रा इत्यर्थः। गलतः = प्रस्रवतः दानस्य = मदोदकस्य उद्रेकेण = बाहुल्येन भ्रमन्तः = पर्यटन्तः

अलीनां = भ्रमराणां कदम्बाः = समूहाः येषु ते। एतेन मदोन्मत्तत्वं सूचितम्। एवंभूताः करटाः सन्ति येषां ते करटिनः = गजाः (करटो गजगण्डे स्यात्-अमरः) यत्र स्थेमानं = स्थैर्यं स्थिरस्य भावः (स्थिर + इमनिच्) "पृथ्वादिभ्यः इमनिज्वा" (पा०५।१।१२२) न दधुः = स्थिरीभवितुं न शक्ता इत्यर्थः। लुठन्ति = श्वापदपादैः परिवर्तन्ते मुक्तानां = विदीर्णमत्तमतङ्गजगण्डस्थलोत्पन्नमौक्तिकानां भाराः = प्रचुरनिकराः यस्मिन् तस्मिन्। द्वारे इत्यग्रे अन्वयः। परलोकं = स्वर्गं। जगाम इति गतवान्, तस्य गतवतः = प्राप्तस्य, मृतस्येतियावत्। हरेः = केसरिणः (हर्यक्षः केसरी हरिः—अमरः) द्वारे = गुहामुखे, अद्य, शिवशिव इति खेदाद् भगवन्नामस्मरणम्। शिवानां = क्रोष्ट्रीणां। कलकलः = रोदनं भवति।

भावार्थ—सिंहके जीवित रहते जिस गुफाद्वारपर, मदपानकी इच्छासे भौंरोंके झुण्ड जिनके गण्डस्थलोंपर मंडरा रहे हैं ऐसे गजेन्द्र, भयसे त्रस्त नेत्रोंवाले होकर एक क्षण भी नहीं ठहरते थे, गजमुक्ताओंके ढेर जहाँ लुढ़क रहे हैं ऐसे उसी द्वारपर आज सिंहके परलोक चले जानेसे शिवशिव सियार वोल रहे हैं।

टिप्पणी—इस सिंहान्योक्ति द्वारा कविने यह स्पष्ट किया है कि धन, विद्या या शौर्यका मद व्यर्थ है। व्यक्तिकी जीवितावस्था तक ही उस मदका प्रभाव रहता है। जव जीवन ही नश्वर है तो यह सारा दृश्य वैभव भी रह नहीं सकता। इसलिये इसके मदमें चूर रहना वुद्धिमत्ता नहीं है। आज जिससे दुनियाँ त्रस्त है कलको वही कुत्तेकी मौत मर सकता है। वड़े-वड़े वलशाली गजेन्द्रोंकी डरके मारे जहाँ जानेमें आँखें घूम जाती थीं, आज उसी सिंहके गुफाद्वारपर सियार स्वच्छन्द विचरण कर रहे हैं। पुरुषार्थी व्यक्ति नहीं रहा तो उसके घरमें भी क्षुद्रों का आधिपत्य हो जाता है।

इसमें पर्याय और स्वभावोक्ति अलंकारों की संसृष्टि है। शिखरिणी छन्द है (लक्षण दे० श्लोक १) ॥३०॥

दधानः प्रेमाणं तरुषु समभावेन विपुलां
न मालाकारोऽसावकृत करुणां बालबकुले।
अयं तु द्रागुद्यत्कुसुमनिकराणां परिमलैः
दिगन्तानातेने मधुपकुलझङ्कारभरितान् ॥३१॥

अन्वय—तरुषु, समभावेन, प्रेमाणं, दधानः, अपि, असौ, मालाकारः, बालबकुले, विपुलां, करुणां, न, अकृत, अयं, तु, द्राग्, उद्यत्, कुसुमनिकराणां, परिमलैः, दिगन्तान्, मधुपकुलझङ्कार-भरितान्, आतेने।

शब्दार्थ—तरुषु = (सभी) वृक्षोंमें। समभावेन = समान रूपसे। प्रेमाणं = स्नेहको दधानः अपि = धारण करता हुआ भी। असौ = यह। मालाकारः = माली। बालबकुले = छोटेसे बकुल वृक्षपर। बहुलं = अधिक। करुणां = दया। न अकृत = नहीं किया। अयं तु = यह (बकुल-वृक्ष) तो। द्राक् = शीघ्र ही। उद्यत् = खिलते हुए। कुसुमनिकराणां = पुष्पसमूहोंके। परिमलैः = सुगन्धोंसे। दिगन्तान् = दशों दिशाओंको। मधुपकुलझङ्कारभरितान् = भौंरोंके झुण्डोंकी झंकारसे भरे हुए। आतेने = कर दिया।

टीका—तरुषु = उद्यानवृक्षेषु। समभावेन = तुल्यरूपतया। प्रेमाणं = स्नेहं। दधानः = धारयन्नपि। असौ = एष। मालाकारः = मालिकः उद्यानपालक इति यावत्। बालश्चासौ बकुलश्च तस्मिन् बालबकुले = लघुबकुलक्षुपे। विपुलाम् = अतीव। करुणां = दयां, न अकृत = नाकरोत्। यथान्यान् वृक्षानासिषेच तथैवैनमपि, न तु विशेषेणेतिभावः। द्राक् = शीघ्रमेव (द्राङ् मंक्षु सपदि द्रुतम्—अमरः) उद्यन्तः = आविर्भवन्तो ये कुसुमनिकराः = पुष्पगुच्छाः तेषां। परिमलैः = आमोदैः। दिशामन्ताः दिगन्ताः तान् दिगन्तान् = दिग्विभागान्। मधुपानां =

भ्रमराणां यत् कुलं = समूहः तस्य झङ्कारेण = गुञ्जनेन भरिताः = आपूरिताः तान्, एवंविधान्। आतेने = विस्तारयामास।

भावार्थ—उद्यानके सभी वृक्षोंपर समान स्नेह करनेवाले मालीने इस वकुल वृक्षपर कोई विशेष दया नहीं की, अर्थात् अन्य वृक्षोंकी अपेक्षा इसे अधिक नहीं सींचा। तो भी इस बकुलने तो शीघ्रही वढ़कर अपने पुष्पस्तवकोंकी असीम सुगन्धसे आकृष्ट भ्रमरोंके कलरवसे दशों दिशाओंको गुंजायमान कर दिया।

टिप्पणी – अपने गुण, विद्वत्ता और बुद्धिवल ही मनुष्यकी कीर्तिको दिगन्तव्यापी वना सकते हैं, दूसरोंकी सहायता तो निमित्तमात्र ही होती है। इसी भावको कविने इस वकुलान्योक्ति द्वारा व्यक्त किया है। मालीने तो सव वृक्षोंका समानभावसे ही पोषण किया था। इस छोटेसे वकुलको तो अधिक सींचा नहीं, किन्तु इसने शीघ्र ही वढ़कर अपनी सुगन्ध द्वारा समस्त भौंरोंको अपनी ओर आकृष्ट कर लिया और वे इस प्रकार गूँजने लगे कि उनके कलरवसे दिशाएँ भर गयीं। वकुल-के साथ 'वाल' यह विशेषण देनेसे यह ध्वनि भी व्यक्त होती है कि मालीने तो अन्य वृक्षोंकी अपेक्षा इसे छोटा समझकर इसपर कम ही दया दिखायी, वड़े वृक्षोंसे इसमें कम ही जल डाला, फिर भी वे पिछड़ गये और यह शीघ्र ही वढ़ गया। इसने अपनी गन्धको दशों दिगन्तों में फैला दिया। इससे कविकी यह भावना भी व्यक्त होती है कि चारों ओरसे तिरस्कृत होनेपर भी मेरे अद्वितीय पाण्डित्यने उन अहम्मन्य पंडितोंको पछाड़ ही डाला।

यहाँ असम्भव अलंकार है—"असम्भवोऽर्थसम्पत्तेरसंभाव्यत्व वर्णनम्। को वेद गोपशिशुकः शैलमुत्पाटयेदिति" (कुवलया०) शिखरिणी छन्द है (लक्षण दे श्लो० १) ॥३१॥

मूलं स्थूलमतीवबन्धनदृढं शाखाः शतं मांसलाः
वासो दुर्गमहीधरे तरुपते कुत्रास्ति भीतिस्तव ॥

एकः किन्तु मनागयं जनयति स्वान्ते ममाधिज्वरं
ज्वालालीवलयीभवन्नकरुणो दावानलो घस्मरः ॥३

अन्वय—तरुपते ! मूलं, स्थूलम् , अतीव, बन्धनदृढं, शाखाः, शतं, मांसलाः, वासः, दुर्गमहीधरे, तत्र, कुत्र, भीतिः, अस्ति, किन्तु, अयम् , एकः, ज्वालालीवलयीभवन् , अकरुणः, घस्मरः, दावानलः, मम, स्वान्ते, मनाक् , आधिज्वरं, जनयति ।

शब्दार्थ—तरुपते = हे वृक्षराज ! तव = तुम्हारी । मूलं = जड़ स्थूलं = मोटी है । (और) अतीव बन्धनदृढं = अत्यन्त दृढ़रूपसे बंधी है। शाखाः = शाखाएँ । शतं = सैकड़ों हैं (और) । मांसलाः = पुष्ट हैं। वासः = स्थिति । दुर्गमहीधरे = अगम पहाड़पर है । कुत्र भीतिः अस्ति = (तुम्हें) डर कहाँसे है । किन्तु । अयं = यह । एकः = एक । ज्वालाली-वलयीभवन् = लपटोंकी कतारसे गोल आकारमें होता हुआ । अकरुणः = निष्ठुर । घस्मरः = सर्वभक्षी । दावानलः = वनाग्नि । मम स्वान्ते = मेरे मनमें । मनाक् = थोड़ासा । आधिज्वरं = मनोव्यथारूप संतापको जनयति = उत्पन्न कर रहा है ।

टीका— तरूणां = वृक्षाणां पतिः=श्रेष्ठस्तत्संबुद्धौ हे तरुपते = वृक्षराज! तव मूलम् = आद्यं ब्रध्नमितिभावः ("जड़" इति भाषायाम्)। अतीव = अत्यन्तं । स्थूलं = महत्तरं । तथा । बन्धनेन = भूमेरन्तः पाषाणादिभि-र्वेष्टनेन दृढम् = अचलं, च अस्तीति शेषः । शाखाः = विटपाः ('डाल' इति भाषायाम्) शतं = वहुसंख्याका इतिभावः । अथ च । मांसलाः = पुष्टाः नतु शुष्का इति भावः । वासः = स्थितिः । दुर्गमहीधरे = दुःखेन गन्तुं शक्यः दुर्गः, स चासौ महीधरश्च = पर्वतश्च तस्मिन् । अतः भीतिः = भयं । कुत्र अस्ति = न क्वापीत्यर्थः । किन्तु । अयं = सम्भाव्यमानः एकः । ज्वालालीवलयीभवन् ज्वालानाम् = अलातानां ('लपटें' इति भाषायाम्) या आली = पंक्तिः तया, अवलयः वलयः संपद्यमानः भवन् इति

वलयीभवन् = कंकणाकारः, सर्वत आवेष्टयन् इतिभावः। अकरुणः=नास्ति करुणा यस्यासौ = निष्ठुरः। घस्मरः = सर्वभक्षकः (भक्षको घस्मरोऽद्मरः—अमरः)। दावानलः = वनाग्निः। मम। स्वान्ते = मनसि (स्वान्तं हृन्मानसं मनः—अमरः) मनाक् = ईषद्। आधिज्वरं आधिः = मनोव्यथा (पुंस्याधिर्मानसी व्यथा—अमरः) एव ज्वरः = तापकारकः, तं। जनयति = उत्पादयति।

भावार्थ—हे वृक्षराज! तुम्हारी जड़ मोटी एवं पक्की है। शाखाएँ सैकड़ों और परिपुष्ट हैं। दुर्गमपर्वतपर स्थित हो। अतः तुम्हारे लिये भयका कोई कारण नहीं दीखता। किन्तु अपनी गोलाकार लपटोंसे घेर लेनेवाला निष्ठुर यह सर्वभक्षी एक दावानल ही मेरे हृदयमें तुम्हारे विषयमें सन्ताप उत्पन्न कर रहा है।

टिप्पणी—मनुष्य कितना ही साधन-सम्पन्न एवं बलशाली क्यों न हो फिर भी उसे स्वयं को निरापद न समझना चाहिये। इसी भावको इस वृक्षान्योक्ति द्वारा स्पष्ट किया है। वृक्षकी जड़ें पर्याप्त मोटी एवं दृढ़ हैं अतः आँधी आदिसे गिरनेका भय उसे नहीं हो सकता। शाखाएँ पुष्ट हैं स्वतः गिर नहीं सकतीं, एक आध गिर भी जाय तो सैकड़ों हैं कोई क्षति नहीं। दुर्गम पर्वतपर स्थित है, मार्गस्थ वृक्षों की भाँति किसीसे छेदनका भय भी नहीं। किन्तु फिर भी वह कभी भयानक दावाग्निकी लपटोंसे घिर सकता है। ऐसी शंका उसके विषयमें सहृदयोंको रहती ही है। उस समय उसकी सारी साधनसम्पन्नता व्यर्थ हो जायगी।

इस पद्यका अर्थ इस प्रकार भी हो सकता है [तरव एव पतयः = फलछायादिदानेन रक्षकाः यस्य तत्सम्बुद्धौ हे तरुपते! = तपस्विन्! तव। मूलं = ब्रह्म। ऊर्ध्वमूलमधः शाखमित्यादिस्मृतेरधिष्ठानात्। स्थूलं = महत्-परिमाणं दृढबन्धनम् = अविनाशीति यावत्। शाखाः = तैत्तिरीयादिरूपाः शतं = बहुसंख्याकाः। मांसलाः = परिपुष्टाश्च। अतः कुत्र भीतिकारणम्।

केवलं ज्वालालीत्यादि पूर्ववत् । दावानलः = संघर्षजन्यः । अघहेतुः = पाप-कारणीभूतः यः स्मरः = कामः इति अघस्मरः, एव मम स्वान्ते संतापं जन-यति] हे तपस्विन् ! तुम्हारा आधारभूत ब्रह्म दृढ़ है । उपासनाकी साधनभूत शाखाएँ पुष्ट एवं सैकड़ों हैं । वनमें वास है । इसलिये तपःक्षयकी डरका कोई कारण कहींसे नहीं, किन्तु स्त्री-पुरुषके संसर्गसे उत्पन्न होनेवाली कामरूप अग्निकी ही चिन्ता तुम्हारे विषयमें मुझे सताती है कि कहीं उसकी लपटमें आकर तुम नष्ट न हो जाओ । इस अर्थमें दावानलपद लाक्षणिक है । अर्थात् जिस प्रकार वनोंमें दो काष्ठोंके संयोगसे उत्पन्न अग्नि वनाग्नि होकर सारे वनको भस्म कर देती है उसी प्रकार स्त्री-पुरुष-के संयोगसे उत्पन्न यह कामाग्नि भी संचित तपश्चर्याको नष्ट कर देती है । सम्पूर्ण अघों (पापों) का हेतुभूत यह स्मर (काम) ही तुम्हारा शत्रु है इसे जीतो ।

इसमें श्लेष अलङ्कार है; क्योंकि पृथक् पृथक् अर्थोंका संश्रय इन्हीं शब्दों द्वारा व्यक्त है—“नानार्थसंश्रयः श्लेषो वर्ण्यावर्ण्योभयाश्रयः” (कुवलया०) यह शार्दूलविक्रीडित छन्द है (लक्षण दे० श्लो० ३) ॥३२॥

ग्रीष्मे भीष्मतरैः करैर्दिनकृता दग्धोऽपि यश्चातक-
स्त्वां ध्यायन्घन वासरान्कथमपि द्राघीयसो नीतवान् ।
दैवाल्लोचनगोचरेण भवता तस्मिन्निदानीं यदि
स्वीचक्रे करकानिपातनकृपा तत् कं प्रति ब्रूमहे ॥३३॥

अन्वय—घन, ग्रीष्मे, दिनकृता, भीष्मतरैः, करैः, दग्धः, अपि, यः, चातकः, त्वां, ध्यायन्, द्राघीयसः, वासरान्, कथमपि, नीतवान्, इदानीं, दैवात्, लोचनगोचरेण, भवता, यदि, तस्मिन्, करकानिपातनकृपा, स्वीचक्रे, तत्, कं, प्रति, ब्रूमहे ।

शब्दार्थ—घन = हे बादल ! ग्रीष्मे = गर्मीमें । दिनकृता = सू

द्वारा। भीष्मतरैः = अत्यन्त भयंकर। करैः = किरणोंसे। दग्धः अपि = जलाया हुआ भी। यः चातकः = जो चातक। त्वां ध्यायन् = तुम्हारा ध्यान करता हुआ। द्राघीयसः = अत्यन्त लम्बे। वासरान् = दिनोंको। कथमपि = किसी प्रकार। नीतवान् = बिताता रहा। इदानीं = इस समय। दैवात् = भाग्यसे। लोचनगोचरेण = आँखोंके सामने आये हुए। भवता = आपसे। यदि तस्मिन् = यदि उस (चातक) पर। करकानिपातनकृपा = ओले वरसानेकी कृपा। स्वीचक्रे = स्वीकार की गई। तत् = तो। कंप्रति = किससे। ब्रूमहे = कहें।

टीका—हे घन = जलद ! ग्रीष्मे = निदाघकाले। दिनकृता = दिवाकरेण, अतिशयेन भीष्माः भीष्मतराः तैः = अतिदारुणैः। (दारुणं कठिनं भीष्मं घोरं भीमं भयानकम्—अमरः) करैः = किरणैः। दग्धः = दाहवत्प्राणान्तसन्तापितः। अपि। यः चातकः = सारङ्गाख्यः पक्षिविशेषः (दार्वाघाटोऽथ सारङ्गस्तोककश्चातकः समाः—अमरः) त्वां ध्यायन् = जीवनदातृत्वेन त्वां चिन्तयन्। अतिशयेन दीर्घाः द्राघीयांसः तान् द्राघीयसः = अतिदीर्घान्। वासरान = दिवसान्। कथमपि = केनाप्यनिर्वाच्यप्रकारेण, नीतवान् = अनयत्। इदानीं = साम्प्रतम्। दैवात् = भागधेयात् (दैवं दिष्टं भागधेयं भाग्यं स्त्री नियतिर्विधिः—अमरः) लोचनयोः गोचरः तेन = नेत्रविषयीभूतेन। भवता = घनेन। यदि। तस्मिन् = चातके। करकानां = उपलानां (वर्षोपलस्तु करकाः—अमरः) यन्निपातनं तद्रूपा एव या कृपा = अनुकम्पा सा। स्वीचक्रे = कृता चेत्। ततः = तर्हि। कं प्रति ब्रूमहे = कस्मै किं कथयामः।

भावार्थ—हे घन ! ग्रीष्ममें; सूर्यकी भयङ्कर किरणोंसे संतप्त हुए जिस चातकने तुम्हारा ध्यान करके वे लम्बे दिन काटे। भाग्यसे आँखोंके सामने आते ही आज तुम्हीं यदि उसपर ओले वरसाने लगे तो फिर किससे क्या कहें।

टिप्पणी—जब रक्षक ही भक्षक हो जाय अर्थात् जीवनमें जिससे बड़ी बड़ी आशाएँ कीं वही नष्ट करनेपर तुल जाय तो इसे सिवा अपना दुर्भाग्य समझनेके और किससे क्या कहा जाय, इसी भावको इस मेघान्योक्ति द्वारा व्यक्त किया है।

चातक एक ऐसा पक्षी है जो केवल स्वाति नक्षत्रमें बरसे हुए मेघ-जलको ही पीता है। बेचारेने "अब स्वाति नक्षत्र आयेगा, मेघसे पानी बरसेगा और मेरी प्यास बुझेगी" इसी आशामें बड़ी कठिनतासे किसी प्रकार प्रचण्ड आतपको सहते हुए गर्मियोंके लम्बे-लम्बे दिन बिताये। किन्तु ज्योंही स्वातिका मेघ आकाशमें दीखा, उससे जलके स्थानमें लगे ओले बरसने। अब बेचारा वह चातक सिवा अपने भाग्यको रोनेके किससे क्या कहे। इससे यह भी ध्वनित होता है कि किसीकी आशा पर इस प्रकार तुषारपात करनेवाला अत्यन्त ही निन्दनीय है।

स्वातिके जलरूप इस अर्थके समुद्यममें करकापातरूप अनिष्ट अर्थ-की प्राप्ति होने से यहाँ विषम अलंकार है "अनिष्टस्याप्यवाप्तिश्च तदिष्टार्थसमुद्यमात्" (कुवलया०)। शार्दूलविक्रीडित छन्द है। लक्षण देखिये श्लोक ३ ॥३३॥

दवदहनजटालज्वालजालाहतानां
परिगलितलतानां म्लायतां भूरुहाणाम्।
अयि जलधर शैलश्रेणिशृङ्गेषु तोयं
वितरसि बहु कोऽयं श्रीमदस्तावकीनः ॥३४॥

अन्वय—अयि जलधर! दवदहन···हतानां, परिगलितलतानां, म्लायतां, भूरुहाणाम्, शैलश्रेणिशृङ्गेषु, बहु, तोयं, वितरसि, अयं तावकीनः, कः, श्रीमदः।

शब्दार्थ—अयि जलधर = हे मेघ ! दवदहन = वनाग्निकी, जटाल = लपलपाती हुई, ज्वालाजाल = लपटोंके समूहसे, आहतानाम् = प्रताड़ित। (तथा) परिगलितलतानां = गिर गई हैं लताएँ जिनसे ऐसे। म्लायतां = मुरझाते हुए। भूरुहाणां = वृक्षोंका (अनादर करके)। शैलश्रेणिशृङ्गेषु = पर्वतपंक्तियोंकी चोटियोंपर। वहुतोयं = वहुत सा जल। वितरसि = वरसाते हो। अयं = यह। तावकीनः = तुम्हारा। कः श्रीमदः = कौनसा सम्पत्तिका उन्माद है।

टीका—अयि जलधर = मेघ ! दवदहनः = वनाग्निः (दवदावौ वनारण्यवह्नी—अमरः) तस्य जटालानां = जटावल्लम्वायमानानां ज्वालानाम् = अलातानां जालानि = समूहाः, तैः हतानां = ताडितानाम्। अत एव। परिगलिताः = च्युताः लताः येभ्यस्ते, तेषां। म्लायतां = शुष्कप्रायाणां। भूमौ रोहन्तीति भूरुहाः = वृक्षास्तेषां। (वृक्षो महीरुहः शाखी-अमरः) "षष्ठी चानादरे" इति सूत्रेणात्र द्वितीयार्थे षष्ठी विभक्तिः। एवंभूतान् वृक्षाननादृत्येत्यर्थः। शैलानां = पर्वतानां याः श्रेणयः = पङ्क्तयः तासां शृङ्गेषु = शिखरेषु। वहु = अनल्पं। तोयं = जलं। वितरसि = ददासि। इति अयं, तावकीनः = त्वदीयः, कः श्रीमदः = सम्पदुन्मादः अस्ति। आक्षेपार्थकः किं शब्दः।

भावार्थ—हे जलधर ! वनाग्निकी लपटोंसे नष्टप्राय हो जानेके कारण लताएँ जिनसे गिर गयी हैं ऐसे, मुरझाये हुए वृक्षोंका तिरस्कार करके तुम जो पहाड़ोंके ऊँचे शिखरोंपर वहुतसा जल वरसाते हो यह तुम्हारा कौनसा श्रीमद है।

टिप्पणी—मेघ की इस अन्योक्ति द्वारा कविने उन विवेकहीन धनमदान्धोंको फटकारा है जो पात्र और अपात्रका विचार नहीं करते, अर्थात् सत्पात्रोंको न देकर कुपात्रोंमें धनका अपव्यय करते हैं। दवाग्निसे दग्धप्राय और मुरझाये हुए वृक्षों पर यदि मेघ पानी वरसाता तो वे पुनः लहलहाते, किन्तु पहाड़ोंकी ऊँची जनहीन चोटियोंपर वरसा हुआ

जल बेकार ही जायगा। फिर भी "मैंने जल वरसाया" ऐसा घमण्ड यदि मेघ करे तो वह व्यर्थ ही है; क्योंकि उन पर्वत-शिखरोंपर बरसे जलकी कोई उपयोगिता नहीं। यहाँ जलधर पद साभिप्राय है। संस्कृत साहित्यमें ल और ड में कोई अन्तर नहीं माना जाता। अतः जो मेघ (आडम्बरी व्यक्ति) जलों (जड़ों या मूर्खों) को धारण करता है उसका स्वयं भी मूर्ख या अविवेकी होना स्वाभाविक है, यह ध्वनि निकलती है।

जटाल—जटा शब्दसे निन्दा अर्थमें "सिध्मादिभ्यश्च" (५।२।९७ पा० सूत्र) से लच् प्रत्यय होलर जटाल शब्द बनता है। इसका वाच्य अर्थ है भद्दी जटाओंवाला। जटाएँ पीली हाती हैं इसी लक्षणासे लम्बी लम्बी आगकी लपटोंके विशेषण रूपमें इसका प्रयोग कविने किया है। भूरुहाणां—यह पद साकांक्ष सा प्रतीत होता है "वृक्षोंको छोड़कर" यह पद शेष रह जाता है। यहाँ वस्तुतः द्वितीया विभक्ति होनी चाहिये थी किन्तु "षष्ठी चानादरे" (२।३।३८ पा० सूत्र) से अनादर अर्थमें षष्ठी विभक्ति हो जाती है और विभक्ति से ही अर्थ भापित हो जाता है—"इन वृक्षोंका अनादर करके" अतः अन्य किसी पदकी आवश्यकता नहीं रह जाती।

यह परिकर अलंकार है। मालिनी छन्द है (लक्षण दे० श्लो० ४) ॥३४॥

> शृण्वन् पुरः परुषगर्जितमस्य हन्त,
>
> रे पान्थ विह्वलमनाः न मनागपि स्याः।
>
> विश्वार्तिवारणसमर्पितजीवनोऽयं
>
> नाकर्णितः किमु सखे भवताम्बुवाहः ॥३५॥

अन्वय—रे पान्थ! पुरः, अस्य, परुषगर्जितं, शृण्वन्, हन्त, मनाग्, अपि, विह्वलमनाः, न, स्याः, सखे! अयम्, अम्बुवाहः, विश्वार्तिवारणसमर्पितजीवनः, भवता, न, आकर्णितः, किमु।

शब्दार्थ—रे पान्थ = हे पथिक ! पुरः = सामने । अस्य = इसके । परुषगर्जितम् = कठोर गरजनेको । शृण्वन् = सुनता हुआ । हन्त = खेदसे । मनाक् अपि = थोड़ा भी । विह्वलमनाः = व्याकुलचित्त । न स्याः = न होना । सखे = हे मित्र ! अयम् अम्बुवाहः = यह मेघ । विश्वार्तिवारण = संसारकी पीड़ा (या प्यास) का निवारण करने में, समर्पितजीवनः = अर्पण कर दिया है जीवन (जल या प्राण) जिसने ऐसा । भवता = आपने । न आकर्णितः किमु = नहीं सुना है क्या ?

टीका—रे पान्थ = हे पथिक ! पुरा = अग्रतः । अस्य = मेघस्य । परुषं = निष्ठुरं यत् गर्जितं = ध्वनितम्, तत् शृण्वन् = आकर्णयन् । हन्त मनाक् अपि = किंचिदपि । विह्वलं = विकलं मनः = अन्तःकरणं यस्य स विह्वलमनाः = विकलचेताः । न स्याः = मा भूः इत्यर्थः । सखे = हे मित्र ! अयम् = एष प्रत्यक्षः । अम्बूनि जलानि वहतीति अम्बुवाहः = मेघः । विश्वस्य = जगतः या आर्तिः = पीडा, तस्याः वारणे = दूरीकरणे समर्पितं = दत्तं जीवनं = जलं प्राणाः वा येन एवंभूतः (जीवनं वर्तते नीर-प्राणधारणयोरपि— अमरकोष, रामाश्रमी) भवता न आकर्णितः किमु = न श्रुतः किम् ? अपि तु श्रुत एव स्यात् इत्यर्थः ।

भावार्थ—हे पथिक ! सामने गरजते हुए मेघकी कठोर गर्जना सुनकर ही भयभीत न हो जाना । क्या तुमने नहीं सुना कि यह मेघ तो दूसरोंकी आर्ति (प्यास या पीड़ा) निवारण करनेके लिये अपना जीवन (जल या देह) भी अर्पण कर देता है ।

टिप्पणी—गुण-दोष सभीमें होते हैं । राह चलते किसीके एक दोषको देखकर यह कल्पना नहीं कर लेनी चाहिये कि वह व्यक्ति दुष्ट ही होगा, संभव हो सकता है कि उसमें कोई ऐसा महान् गुण भी हो जिसके सामने दोष नगण्य हो जाय । अर्थात् किसी भी सिद्धान्तके निर्णय तक पहुँचने-के पहले हमें उसके अन्य तथ्योंको भी जान लेना चाहिये । इसी भाव-को इस पान्थान्योक्ति द्वारा व्यक्त किया है । हे पथिक ! केवल कर्णकटु

भीषण गर्जनसे ही इस मेघके भयानक होनेकी कल्पना न कर लो, यह तो इसका साधारणसा दोष है। इसके उस महान् गुणपर भी ध्यान दो जो कि यह दूसरोंके निमित्त अपना जीवन अर्पण कर देता है। जीवनपद श्लिष्ट है।

इस पद्यमें भयभीत न होनेरूप अर्थका समर्थन मेघके परार्थ जीवन अर्पण करने रूप अर्थसे किया गया है, अतः काव्यलिङ्ग अलंकार है। वसन्ततिलका छन्द है (लक्षण दे० श्लो० १६) ॥३५॥

सौरभ्यं भुवनत्रयेऽपि विदितं शैत्यं तु लोकोत्तरम् ।
कीर्तिः किं च दिगङ्गनाङ्गणगता किन्त्वेतदेकं शृणु ॥
सर्वानेव गुणानियं निगिरति श्रीखण्ड ते सुन्दरान् ।
उज्झन्ती खलु कोटरेषु गरलज्वालां द्विजिह्वावली ॥३६॥

अन्वय—श्रीखण्ड ! ते सौरभ्यं, भुवनत्रये, अपि, विदितं, शैत्यं, तु, लोकोत्तरम्, किं च, कीर्तिः, दिगङ्गनाङ्गणगता, किन्तु, एतद्, एकं, शृणु, इयं, ते, कोटरेषु, गरलज्वालाम्, उज्झन्ती, द्विजिह्वावली, सर्वानेव, सुन्दरान्, गुणान्, निगिरति, खलु।

शब्दार्थ—श्रीखण्ड = हे चन्दन ! ते = तुम्हारा। सौरभ्यं = सुगन्धित होना। भुवनत्रयेऽपि = तीनों लोकोंमें ही। विदितं = विख्यात है। शैत्यं तु = शीतलता तो। लोकोत्तरम् = अलौकिक (सर्वश्रेष्ठ) है। किं च = और। कीर्तिः = यश। दिगङ्गनाङ्गणगता = दिशारूप कामिनियोंके आँगन तक फैला है (अर्थात् दशों दिशाओंमें व्याप्त है)। किन्तु एतद् एकं शृणु = परन्तु इतनी एक बात सुन लो। इयं = यह। ते = तुम्हारे। कोटरेषु = दूहोंमें। गरलज्वालाम् = विषकी लपटोंको। उज्झन्ती = उगलती हुई। द्विजिह्वावली = सर्पोंकी पंक्ति। सर्वान् एव = सभी। सुन्दरान् गुणान् = मनोहर गुणोंको। निगिरति खलु = निगल जाती है, यह निश्चय है।

टीका— हे श्रीखण्ड ! श्रीः = सौरभ्यशोभा, खण्डेषु यस्य तत्सम्बुद्धौ = हे चन्दनेत्यर्थः । ते = तव । सौरभ्यं = सुरभेः भावः (सुगन्धे च च मनोज्ञे च वाच्यवत्सुरभिः स्मृतः—विश्वः)। सौगन्ध्यम् इति यावत् । भुवनानां त्रयं तस्मिन् = लोकत्रये । अपि । विदितं = प्रसिद्धमेव । शैत्यं = सन्तापोपशामकत्वं । तु । लोकोत्तरम् = अलौकिकम् एव । अस्ति । किं च । कीर्तिः = ख्यातिः । परिमलपौष्कल्यमित्यर्थः । दिगङ्गनाङ्गणगता दिशः = आशा एव अङ्गनाः = कामिन्यः तासाम् अङ्गणेषु = अजिरेषु गता = प्राप्ता । चतुर्दिगन्तप्रसृता इत्यर्थः । किन्तु = तथापि । एतद् = आवश्यकम् । एकं = कथनीयं । शृणु = आकर्णय । यत् । इयं = प्रत्यक्षा कोटरेषु = काष्ठविलेषु । गरलस्य = वान्तविषस्य यः ज्वाला = अर्चिः ताम् । यद्वा गरलान्येव ज्वालेव दाहकत्वात् ज्वाला, ताम् । उज्झन्ती = वमन्ती । द्विजिह्वाः = सर्पाः तेषाम् अवली = पंक्तिः (द्विजिह्वौ सर्पसूचकौ-अमरः)। ते = तव । सर्वानेव = निखिलानपि । सुन्दरान् = रम्यान् । गुणान् = सौरभ्यादीन् निगिरति खलु = भक्षयत्येवेत्यर्थः ।

भावार्थ—हे श्रीखण्ड ! तुम्हारी सुगन्धिमत्ता त्रिभुवनमें प्रसिद्ध है, शीतलता अलौकिक है, कीर्ति दशों दिशाओंके अन्तिम छोरतक पहुँची है, किन्तु फिर भी यह एक बात सुनलो । तुम्हारे कोटरोंमें (खोखलोंमें) रहकर भयानक विष उगलते हुए ये सर्पोंके झुण्ड तुम्हारे इन सारे सुन्दर गुणोंको निगल जाते हैं ।

टिप्पणी—कोई कितना ही गुणी क्यों न हो, यदि वह खलोंसे घिरा है तो निश्चय ही उसके सारे गुण वेकार हो जाते हैं, इसी भावको इस चन्दनान्योक्तिसे व्यक्त किया है । चन्दनकी सुगन्धिमत्ता और शीतलताको कौन नहीं जानता, इसलिये सभीको उसकी चाह रहती है । परन्तु कोई भी उसे तव तक प्राप्त नहीं कर सकता जव तक कि उसमें लिपटे हुए विषधरोंको नष्ट न करे । इसी प्रकार जो व्यक्ति स्वभावतः शान्त और

सज्जन है उसके गुणोंकी ख्याति भी सर्वत्र ही रहती है; किन्तु यदि खल उसे घेरे रहते हैं तो उसके पास तक पहुँचकर उसकी सज्जनतासे लाभ उठाना असम्भव ही है । अतः वह सारी सज्जनता या गुणशालिता बेकार हो जाती है ।

इस पद्य में द्विजिह्व पद स्पष्टतः द्व्यर्थक है जो सर्प और पिशुन दोनोंका बोध कराता है । इस प्रकार सौरभ्यका मनोहरता और शैत्यका जड़ता अर्थ मानकर सज्जनके पक्षमें भी अर्थ लग जाता है । अतः श्लेष अलंकार हो सकता है । लुप्तोपमा तो है ही । शार्दूलविक्रीडित छन्द है (लक्षण दे० श्लो० ३) ॥ ३६ ॥

नापेक्षा न च दाक्षिण्यं न प्रीतिर्न च संगतिः ।
तथापि हरते तापं लोकानामुन्नतो घनः ॥३७॥

अन्वय—न, अपेक्षा, न च, दाक्षिण्यं, न, संगतिः, तथापि, उन्नतः, घनः, लोकानां, तापं, हरते ।

शब्दार्थ—अपेक्षा न = (किसी प्रकारके प्रत्युपकार की) इच्छा नहीं है । दाक्षिण्यं = निपुणता । न च = भी नहीं है । प्रीतिः न = (किसी-से) स्नेह भी नहीं है । संगतिश्च न = और किसीका साहचर्य भी नहीं है । तथापि = तो भी । उन्नतः = महान् (अत्यन्त ऊँचाईपर रहनेवाला) घनः = मेघ । लोकानां = प्राणियोंके । तापं हरते = सन्तापको मिटाता है ।

टीका – यद्यपि घनस्य । अपेक्षा = ईहा, न । अस्तीति शेषः । दाक्षिण्यं = कौशलं च न अस्ति, प्रीतिः = अनुरागः । अपि न । न च संगतिः = सत्सङ्गः अस्ति । तथापि = एवंभूतोऽपि । अयम् । उन्नतः = उपरिगतः । घनः = मेघः । लोकानां = जनानां सन्तप्तानामिति यावत् । तापं = दुःखं हरते = निवारयति ।

भावार्थ—यद्यपि इसको न किसी की अपेक्षा है, न इसमें कोई

कौशल ही है, न किसीसे विशेष अनुराग रखता है और न कोई इसका सहायक है, तो भी यह उन्नत मेघ लोगोंके सन्तापको हरण करता है।

विशेष—सज्जनकी महत्ता यही है कि वह अकारण ही विना किसी प्रत्युपकारकी भावनाके दूसरोंका उपकार करता है, यही इस मेघान्योक्तिसे व्यक्त होता है। अत्यन्त ऊँचाईपर चढ़े हुए मेघको न तो किसी वस्तुकी आकांक्षा रहती है (अर्थात् मेघ पानी वरसाकर उसके वदलेमें किसीसे कुछ चाहता नहीं) न उसमें दाक्षिण्य = चतुरता ही है। वह एक जड़ पदार्थ है लोगोंकी इस भावनाको समझनेकी शक्ति उसमें नहीं कि पानीके विना लोग तरस रहे हैं अतः मुझे वर्षा कर देनी चाहिये। तुलना०—धूमज्योतिः सलिलमरुतां सन्निपातः क्व मेघः—कालिदास। अथवा न समुद्रसे जल लेकर वरसा देनेमें कोई वड़ा कौशल ही है। न किसीके प्रति उसे विशेष अनुराग ही है जिसके लिये वह वरसता हो, न कोई उसका सहायक ही है, फिर भी वह जल वरसाकर संतप्त प्राणियोंके संतापको दूर करता है। इसी प्रकार सज्जनको भी न तो किसी प्रकारकी प्रत्युपकारकी चाह रहती है; क्योंकि वह दान केवल इसीलिये करता है कि उसे दान करना चाहिये। तुलना०—दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे। (गीता)। न वह अपना कौशल दिखाना चाहता है। समदर्शी होनेसे न किसीपर विशेष अनुराग ही उसका रहता है और न उसे किसी संग (सहायक) की आवश्यकता रहती है; किन्तु फिर भी वह लोगोंका उपकार करता है; क्योंकि वह महान् होता है और यह उसका स्वाभाविक गुण है। इस पद्यमें उन्नत यह विशेषण साभिप्राय है अर्थात् मेघ उन्नत (ऊँचा या महान्) है इसलिए अकारण उपकारी है अतः परिकर अलंकार है। अपेक्षा आदि कारण न होने पर भी जल वरसाना रूप कार्य होनेसे विभावना अलंकार भी है—क्रियायाः प्रतिषेधेऽपि फलव्यक्तिर्विभावना। अतः दोनों की संसृष्टि है। अनुष्टुप् छन्द है—इसके प्रत्येक पादमें ८,८ अक्षर होते

हैं। प्रत्येक पादमें षष्ठ अक्षर सदा गुरु और पंचम अक्षर सदा लघु होता है तथा दूसरे और चौथे पादमें सप्तम भी ह्रस्व होता है। शेष अक्षरोंमें कोई नियम नहीं रहता। इसे श्लोक भी कहते हैं ॥३७॥

समुत्पत्तिः स्वच्छे सरसि हरिहस्ते निवसनं
निवासः पद्मायाः सुरहृदयहारी परिमलः।
गुणैरेतैरन्यैरपि च ललितस्याम्बुज तव
द्विजोत्तंसे हंसे यदि रतिरतीवोन्नतिरियम्॥३८॥

अन्वय—अम्बुज! स्वच्छे, सरसि, समुत्पत्तिः, हरिहस्ते, निवसनं, पद्मायाः, निवासः, सुरहृदयहारी, परिमलः, एतैः, अन्यैः, अपि, गुणैः, ललितस्य, तव, यदि, द्विजोत्तंसे, हंसे, रतिः, इयम्, अतीव, उन्नतिः।

शब्दार्थ—अम्बुज = हे कमल! स्वच्छे सरसि = निर्मल तालावमें। समुत्पत्तिः = जन्म लेना। हरिहस्ते = भगवान् (विष्णु) के हाथमें। निवसनं = रहना। पद्मायाः = लक्ष्मीका। निवासः = घर होना। सुरहृदय-हारी = देवताओंके भी मनको मोहक। परिमलः = सुगन्ध। एतैः = इन। (तथा) अन्यैरपि = और भी। गुणैः = गुणोंसे। ललितस्य = सुन्दर। तव = तुम्हारी। द्विजोत्तंसे = पक्षियोंमें श्रेष्ठ। हंसे = हंसपर। रतिः = प्रीति (हो तो)। इयं = यह। अतीव = अत्यन्त ही। उन्नतिः = कल्याण-कारक होगी।

टीका—अम्बुनि जले जातः उत्पन्नः तत्सम्बुद्धौ हे अम्बुज = कमल! स्वच्छे = निर्मले। सरसि = कासारे (कासारः सरसी सरः—अमरः) तव इत्यग्रे सम्बन्धः। समुत्पत्तिः = प्रादुर्भावः। हरिहस्ते हरेः = विष्णोः हस्ते = करे, निवसनं = वसतिः। पद्मायाः = लक्ष्म्याः (लक्ष्मीःपद्मालया पद्मा—अमरः) निवासः = वासस्थानं। त्वमिति शेषः। सुराणां = देवानां स्वर्वासिनामपि हृदयं = मनः हरतीति सकलैश्वर्योपभोगिनामपि

मनोमोहकमित्यर्थः। परिमलः = आमोदः। एतैः = सङ्ख्यातैः। अन्यैरपि = इतोऽपीतरैः गुणैः = सुन्दरीवदनसादृश्यादिभिः, ललितस्य = मनोहरस्य। तव, यदि। द्विजोत्तंसे = पक्षिश्रेष्ठे (पक्षिब्रह्माण्डजाः द्विजाः— अमरः) हंसे = मराले। अपि। रतिः = प्रीतिः, स्यात् तर्हि। इयम्। अतीव = प्रकृष्टतरा उन्नतिः = अभ्युदयः स्यात्।

भावार्थ—हे कमल ! स्वच्छ जलमें उत्पत्ति, नारायणके हाथमें निवास, लक्ष्मीजीका आवास होना, देवताओंको भी मोहित करनेवाली गन्ध, इन सभी तथा और भी गुणोंके रहते हुए यदि तुम्हारी पक्षिप्रवर हंसके साथ मैत्री भी हो तो यह अत्यन्त ही उन्नतिका लक्षण होगा।

टिप्पणी—गुणी व्यक्ति यदि अपनेसे अधिक गुणवान्‌के सहवासमें प्रेमपूर्वक रहता है, उससे ईर्ष्या नहीं करता तो उसकी गुणवत्तामें चार चाँद लग जाते हैं। अन्यथा सर्वगुणसम्पन्न होनेपर भी दुर्जनोंका संग हुआ और सज्जनोंसे द्वेष करने लगा तो नष्ट होने का ही भय रहता है। इसी भावको इस कमलान्योक्तिसे व्यक्त किया है। कमलका निर्मल जलमें जन्म, भगवान्‌के हाथमें निवास, लक्ष्मीजीका उसपर निवास, मनोमोहक सुगन्ध आदि और भी गुण एकसे एक उत्तम हैं। साथ ही यदि वह अपने सहवासी हंससे प्रेमका व्यवहार भी करता है अर्थात् उसके गुणोंपर ईर्ष्या नहीं करता तो यह उसके अभ्युदयका ही लक्षण है। इसमें द्विज (पक्षी, ब्राह्मण) और हंस (मराल, परमहंस ज्ञानी) ये शब्द द्व्यर्थक हैं। इनसे यह भी अर्थ ध्वनित होता है कि अच्छे कुलमें जन्म, भगवान्‌के प्रति भक्ति, श्रीसम्पन्नता, देवताओंपर आस्तिक भाव रहते हुए कोई व्यक्ति यदि किसी परमहंस (ज्ञानवान्) व्यक्तिसे आस्थापूर्वक सत्सङ्ग भी करता है तो उसकी उन्नति (मोक्षप्राप्ति) निश्चित ही है। 'अम्बुज' पदसे कमलका जड़जन्य होनेसे किंचित् अविवेकित्व और 'हंस' पदसे मरालका तदपेक्षया उत्तमत्व सूचित होता है। इससे यह भी

स्पष्ट होता है कि संगति सर्वदा अपनेसे उच्चकी करनी चाहिये। इसमें काव्यलिङ्ग अलंकार है। शिखरिणी छन्द है ॥३८॥

साकं ग्रावगणैर्लुठन्ति मणयस्तीरेऽर्कबिम्बोपमाः,
नीरे नीरचरैः समं स भगवान् निद्राति नारायणः।
एवं वीक्ष्य तवाविवेकमपि च प्रौढिं परामुन्नतेः
किं निन्दान्यथवा स्तवानि कथय क्षीरार्णव त्वामहम्॥३९॥

अन्वय— क्षीरार्णव ! तीरे, अर्कबिम्बोपमाः, मणयः, ग्रावगणैः, साकं, लुठन्ति, नीरे, स, भगवान्, नारायणः, नीरचरैः समं, निद्राति, एवं, तव, उन्नतेः, परां, प्रौढिम्, अपि च, अविवेकम्, वीक्ष्य, अहं, त्वां, किं, स्तवानि, अथवा, निन्दानि, कथय।

शब्दार्थ—क्षीरार्णव = हे क्षीरसागर ! तीरे = (तुम्हारे)। तटपर। अर्कबिम्बोपमाः = सूर्यमंडल जैसे। मणयः = रत्न। ग्रावगणैः साकं = पत्थरोंके टुकड़ोंके साथ। लुठन्ति = लुढ़क रहे हैं। नीरे = (तुम्हारे) जल में। सः = वह (प्रसिद्ध)। भगवान् नारायणः = भगवान् विष्णु। नीरचरैः समं = जलचरों (नक्रादि) के साथ। निद्राति = सोता है। एवं = इस प्रकार। तव = तुम्हारी। उन्नतेः = उन्नतिकी। परां प्रौढिं = चरम सीमाको। अपि च = और। अविवेकं = अज्ञानको। वीक्ष्य = देखकर। अहं = मैं। त्वां = तुम्हारी। किं स्तवानि = क्या स्तुति करूं ? अथवा निन्दानि = निन्दा करूँ। कथय = तुम्हीं कहो।

टीका—हे क्षीरार्णव = क्षीरसागर ! तव। तीरे = तटवर्तिनि प्रदेशे। अर्कबिम्बोपमाः = सूर्यमण्डलसदृशाः मणयः = रत्नानि। एतेन मणीनामतीव तेजोयुक्तत्वं सूच्यते। ग्रावगणैः = पाषाणसमूहैः (पाषाणप्रस्तरग्रावो—अमरः) साकं = सह। लुठन्ति = परिवर्तन्ते। नीरे = जले।

जलवत्परिपूर्णे क्षीरे इत्यर्थः। सः = श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धः भगवान् = ईश्वरः। एतेन तस्य सर्वातिशायित्वं पूज्यत्वं च व्यज्यते। नारायणः = विष्णुः। नीरचरैः = जलचरैः मत्स्यनक्रादिभिः, समं। साकं निद्राति = शेते एवं। तत्र। उन्नतेः = सौभाग्यशालितायाः। पराम् = उत्कृष्टां। प्रौढिं = समृद्धिम् अपि च = अथ च। अविवेकं = मूढत्वं, च। वीक्ष्य = अवलोक्य। अहं। त्वां = क्षीरार्णवं। किम्, इति सन्देहे। स्तवानि = तव स्तुतिं करवाणि अथवा निन्दानि = निन्दां करवाणि। इति। कथय = वद। त्वमेवेति शेषः।

भावार्थ—हे क्षीरसागर! तुम्हारे तटपर सूर्यविम्व सदृश दीप्तिमान् रत्न पत्थरोंके साथ लोटते हैं। तुम्हारे जलमें भगवान् विष्णु मत्स्य-नक्रादि क्षुद्र जलचरोंके साथ शयन करते हैं। इस प्रकार तुम्हारे इस परम ऐश्वर्य और विवेकहीनताके लिये मैं तुम्हारी प्रशंसा करूँ या निन्दा, तुम्हीं वताओ।

टिप्पणी—पूर्वश्लोकमें दर्शाया है कि गुणवान्को गुणीका आदर और अपनेसे उच्चकी संगति करनी चाहिये। तव प्रश्न होता है कि गुणहीनोंका क्या होगा और सज्जनकी समदर्शिता कैसे मानी जायगी? इसी प्रश्नके उत्तरको इस क्षीरार्णवान्योक्ति द्वारा व्यक्त किया है। समदर्शिताके माने विवेकहीन होना नहीं होता। जो व्यक्ति या पदार्थ जितने सम्मानका पात्र है उसका उतना ही आदर होना समदृष्टि या विवेककी कसौटी है। सूर्यसदृश दीप्तिमान् मणियाँ जिस समुद्रके तटपर सामान्य पत्थरोंके साथ टकरा रही हों उसे हम ऐश्वर्यशाली समझें या मूर्ख? क्यों कि उन मणियोंका, जिनके कारण हम उसे समृद्धिशाली समझनेकी चेष्टा करते हैं, वह उतना ही आदर कर रहा है; जितना उन क्षुद्रपत्थरोंका, जिनसे वे टकरा रही हैं। ऐसे ही जगद्वन्द्य भगवान् विष्णु उसके जलपर उसी प्रकार सो रहे हैं जैसे अन्य क्षुद्र जलचर जन्तु। इस प्रकार मणियोंके ढेर अथवा भगवान्के शयनसे जहाँ समुद्रके प्रति हमारे हृदयमें सम्मानका

भाव उदय होता है वहीं पत्थरों एवं जलचरों द्वारा उनकी समानतासे उसकी अविवेकिताका सन्देह भी।

इस पद्यके द्वारा कविने किसी ऐसे धनकुबेर पर स्पष्ट ही कटाक्ष किया है जिसने सम्भवतः कविको अन्य सामान्य पंडितोंके सदृश ही सम्मानभाजन बनाया है। यहाँ संदेह अलंकार है। शार्दूलविक्रीडित छन्द है (ल० दे० श्लो० ३) ॥३९॥

किं खलु रत्नैरेतैः किं पुनरभ्रायितेन वपुषा ते।
सलिलमपि यन्न तावकमर्णव वदनं प्रयाति तृषितानाम् ४०

अन्वय—अर्णव ! ते, एतैः, रत्नैः, किं, खलु, पुनः, अभ्रायितेन, वपुषा, किं, यत्, तावकं, सलिलं, तृषितानाम्, अपि, वदनं, न प्रयाति।

शब्दार्थ—अर्णव = हे समुद्र ! ते = तुम्हारे। एतैः = इन। रत्नैः = रत्नोंसे। किं खलु = क्या करें। अभ्रायितेन = बादलों जैसे साँवले। वपुषा = शरीरसे। किं = क्या लाभ। यत् = जोकि। तावकं सलिलम् = तुम्हारा जल। तृषितानामपि = प्यासोंके भी। वदनं = मुखमें। न प्रयाति = नहीं जाता।

टीका—हे अर्णव = समुद्र! ते = तव। एतैः = विद्यमानैः। रत्नैः = मणिभिः। किं खलु = को लाभः। पुनः = अथ च। अभ्रवदाचरितम् अभ्रायितं तेन = मेघवन्महता श्यामलेन च इतिभावः। वपुषा = शरीरेण किं। यत्। तावकं = त्वदीयं। सलिलं = जलं, तृषा संजाता येषां ते तेषां तृषितानां = पिपासाकुलानाम्। अपि। वदनं = मुखं। न प्रयाति = न प्राप्नोति।

भावार्थ—हे सागर ! तुम्हारे इन असंख्य रत्नोंसे और बादलों जैसे नीले व विशाल आकारसे क्या लाभ ? जबकि तुम्हारा जल (खारा होनेके कारण) प्यासोंके भी मुखमें नहीं जाता।

टिप्पणी—सम्पन्नोंकी सम्पत्तिका सदुपयोग तभी समझा जा सकता है जब कि वह विपन्नोंके विपत्ति-निवारणमें काम आती हो। इसी भावको लेकर यह समुद्रान्योक्ति कही गई है। रत्नोंके प्राचुर्य और आकारकी विशालतासे क्या करें जब कि समुद्रका जल खारा होनेसे एक बूँद भी किसी प्यासेके काम नहीं आता। इस पद्यसे यह भी ध्वनित होता है कि सदुपदेष्टाके प्रति क्रुद्ध होनेवाले कृतघ्नसे कवि रुष्ट होकर कहता है तुम्हारा जल भी ग्रहण करने योग्य नहीं है अन्नको कौन पूछे। लुप्तोपमा अलंकार है। गीतिछन्द है (दे० ल० श्लो० १२) ॥४०॥

इयत्यां सम्पत्तावपि च सलिलानां त्वमधुना
न तृष्णामार्तानां हरसि यदि कासार सहसा।
निदाघे चण्डांशौ किरति परितोऽङ्गारनिकरं
कृशीभूतः केषामहह परिहर्तासि खलु ताम् ॥४१॥

अन्वय—कासार! सलिलानाम्, इयत्यां, सम्पत्तौ, अपि, त्वम, अधुना, यदि, आर्तानां, तृष्णां, सहसा, न, हरसि, निदाघे, चण्डांशौ, परितः, अङ्गारनिकरम्, किरति, कृशीभूतः, अहह, केषां, तां, परिहर्तासि।

शब्दार्थ—कासार = हे तड़ाग! सलिलानां = जलोंकी। इयत्यां = इतनी। सम्पत्तौ अपि = सम्पत्ति होनेपर भी। त्वम् = तुम। अधुना = इस समय। यदि। आर्तानां = प्यासे लोगोंकी। तृष्णां = प्यासको। सद्यः = तत्काल। न हरसि = नहीं दूर करते। (तो) निदाघे = ग्रीष्ममें। चण्डांशौ = सूर्यके। परितः = चारों ओर। अङ्गारनिकरम् = आगका समूह। किरति = वरसानेपर। कृशीभूतः = स्वयं क्षीण हुए (तुम)। अहह = अहा (आश्चर्य है)। केषां = किनकी। तां = उस (प्यास) को। परिहर्त्तासि = दूर करोगे।

टीका—हे कासार = सरोवर ! (कासारः सरसी सरः—अमरः) सलिलानां = जलानाम् इयत्यां = विपुलायामित्यर्थः । सम्पत्तौ = लक्ष्म्यां। सत्यामितिशेषः । अपि त्वम् । अधुना = साम्प्रतं । यदि आर्तानां = तृषातुराणां । तृष्णां = पिपासां । सहसा = झटिति । न हरसि = न दूरी- करोषि । चेत् तर्हि । निदाघे = ग्रीष्मे । चण्डांशौ चण्डाः = तीक्ष्णतरा अंशवो = किरणाः यस्य तस्मिन् = सूर्ये । परितः = चतुर्दिक् । अङ्गाराणां = ज्वलदुल्मुकानामिवातिदाहकातपानां यत् निकरं = समूहं तत् । किरति = वर्षति सति । अकृशः कृशः संपद्यमानः भूतः इति कृशीभूतः = क्षीणकायः त्वम् । अहह इति आश्चर्ये । केषां = जनानां । ताम् = तृष्णां । परि- हर्त्तासि = निवारयितासि ।

भावार्थ—हे कासार (झील) ! जलरूप इतनी अपार सम्पत्ति होनेपर भी जब तुम प्यासोंकी पिपासा तत्काल नहीं बुझाते तो भला ग्रीष्ममें जब कि चारों ओर सूर्यकी किरणें आग बरसाती होंगी, उस समय स्वयं क्षीण हुए तुम, किसकी प्यास बुझा सकोगे ?

टिप्पणी—कोई कितना ही ऐश्वर्यशाली हो, विपत्ति सबपर आती है और तब सम्पत्तिका नाश अवश्यम्भावी है । यह जब निश्चय ही है तो जिसने सम्पन्न होनेपर आर्तोंके आर्तिनिवारणमें अपनी सम्पत्तिका विनियोग नहीं किया वह स्वयं विपन्न होनेपर किसीकी सहायता कर सकेगा, यह कोई कैसे माने । इसी भावको कविने कासारकी इस अन्योक्ति द्वारा व्यक्त किया है । ग्रीष्मके आगमन एवं सूर्यरश्मियों द्वारा आग बरसनेकी निश्चित सूचना देकर कासारको भयभीत करता हुआ कवि; मृत्यु या विपत्तियोंके निश्चित आगमनका भय दिखाकर धनमदान्धको सम्पत्तिका सदुपयोग करनेके लिये प्रेरित करता है कि ऐसी भयानक अवस्था आनेसे पूर्व ही तुम आर्तपरित्राणका यश लूट लो । यही तात्पर्य है ।

इसमें भी लुप्तोपमा अलंकार है। शिखरिणी छन्द है (लक्षण दे० श्लोक १) ॥४१॥

अयि रोषमुरीकरोषि नो चेत्
किमपि त्वां प्रति वारिधे वदामः ।
जलदेन तवार्थिना विमुक्तान्यपि
तोयानि महान् न हा जहासि ॥४२॥

अन्वय—अयि वारिधे ! रोषं, न, उरीकरोषि, चेत्, त्वां, प्रति, किमपि, वदामः, हा, महान्, तव, अर्थिना, जलदेन, विमुक्तानि, अपि, तोयानि, न जहासि ।

शब्दार्थ—अयि वारिधे = हे समुद्र ! रोषं = क्रोधको । न उरीकरोषि चेत् = हृदयमें न लाओ तो । त्वां प्रति = तुमसे । किमपि वदामः = कुछ कहें । हा = खेद है । महान् = श्रेष्ठ (होनेपर भी तुम) । तव अर्थिना = तुम्हारे याचक । जलदेन = मेघसे । विमुक्तानि = छोड़े (बरसाये) हुए । तोयानि अपि = जलोंको भी । न जहासि = नहीं छोड़ते हो ।

टीका—वारीणि जलानि धीयन्ते अस्मिन्निति वारिधिः, तत्सम्बुद्धौ अयि वारिधे = हे समुद्र ! यदि । रोषं = क्रोधं । न । उरीकरोषि = स्वीकरोषि चेत् । मम कथनेन रुष्टो न भवसि चेत् इत्यर्थः । तर्हि । त्वां प्रति = त्वत्कृते । किमपि = हितं । वदामः = कथयामः । किं तत् कथनीयमिति चेत् तदाह—हा इति खेदविषयः । महान् = श्रेष्ठः । अपि त्वम् । तव अर्थिना = याचकेन । जलदेन = मेघेन । विमुक्तानि = विसृष्टानि । अपि । तोयानि = जलानि । न जहासि = नत्यजसि । त्वत्तः जलान्यादाय मेघो वर्षति, तान्येव त्वं प्रतिगृह्णासि इति न ते महते योग्यम् इति भावः ।

भावार्थ—हे सागर ! यदि क्रोध न करो तो तुमसे कुछ कहें ।

तुमसे माँग कर बरसाये हुए मेघोंके जलको ग्रहण करना महान् होकर भी तुम नहीं छोड़ते, बड़े खेदकी बात है।

टिप्पणी—व्यक्ति कितना ही महान् या ऐश्वर्यशाली क्यों न हो यदि वह महत्ताके अनुरूप कार्य नहीं करता तो विवेकशील व्यक्तियोंको स्वभावतः दुःख होता है, इसी भावको इस अन्योक्ति द्वारा व्यक्त किया है। समुद्र महान् है, उसकी जलराशि अपार है, मेघ उससे ही जल लेकर संसारमें बरसाते हैं। यदि उस बरसाये हुए जलको समुद्र पुनः ग्रहण करता है तो एक प्रकारसे अपने ही दिये हुए दानको ग्रहण करता है। जो किसी साधारण व्यक्तिके लिये भी निन्दनीय है, फिर सागर जैसे महान् की तो बात ही क्या। यह अन्योक्ति किसी ऐसे कृपण व्यक्ति या शोषक शासकके प्रति कही गई प्रतीत होती है जो दिखानेके लिए तो खूब देता है किन्तु प्रकारान्तरसे उसे खींच लेता है। अप्रस्तुत समुद्रसे प्रस्तुत किसी कृपणकी अभिव्यक्ति होनेसे अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार है और अनुप्रास भी। यह मालभारिणी छन्द है—स स जा प्रथमे पदे गुरु चेत् स भ रा येन च मालभारिणी स्यात्। (वृत्त०) ॥ ४२ ॥

न वारयामो भवतीं विशन्तीं वर्षानदि स्रोतसि जह्नुजायाः।
न युक्तमेतत्तु पुरो यदस्यास्तरङ्गभङ्गान्प्रकटीकरोषि ॥४३॥

अन्वय—वर्षानदि ! जह्नुजायाः, स्रोतसि, विशन्तीं, भवतीं, न वारयामः, तु, एतत् , न युक्तं, यत् , अस्याः, पुरः, तरङ्गभङ्गान्, प्रकटीकरोषि ।

शब्दार्थ—वर्षानदि = हे वर्षाकालकी क्षुद्रनदी ! जह्नुजायाः = जाह्नवीके। स्रोतसि = प्रवाहमें। विशन्तीं = घुसती हुई। भवतीं = आपको। न वारयामः = हम नहीं रोकते। तु = किन्तु। एतत् न युक्तं = यह

ठीक नहीं है। यत् = कि। अस्याः पुरः = इस गंगाके सामने। तरङ्ग-भङ्गान् = लहरोंकी उछालोंको। प्रकटीकरोषि = दिखा रही हो।

टीका— हे वर्षानदि! जह्नोर्जाता जह्नुजा = गङ्गा तस्याः। स्रोतसि = प्रवाहे (स्रोतोऽम्बुसरणं स्वतः—अमरः) विशन्तीम् = एकीभावं कुर्वन्तीं। भवतीं न वारयामः = प्रतिषेधं न कुर्मः। वयमिति शेषः। तु = किन्तु। एतत् न युक्तम् = इदं न समीचीनम्। यत्। अस्याः = गङ्गायाः। पुरः = अग्रे। तरङ्गभङ्गान् = ऊर्मिविशेषान् प्रकटीकरोषि = दर्शयसि।

भावार्थ—हे वर्षानदी! पवित्र जाह्नवीके जलमें यदि तुम अपनेको लीन कर रही हो तो हम तुम्हें रोकते नहीं, किन्तु यह उचित नहीं कि तुम उसके सामने अपनी तरङ्गोंको विशेष रूपसे उछालो।

टिप्पणी – क्षुद्रजन यदि महान् लोगोंके सम्पर्कमें आना चाहें तो उचित ही है, किन्तु यदि वहाँ जाकर महज्जनोंके गुण ग्रहण करना छोड़ उनके सामने अपनेको ही महान् समझकर इतराने लगें तो यह मूर्खताका ही परिचायक है। इसी भावको कविने वर्षानदीकी इस अन्योक्ति द्वारा व्यक्त किया है। वर्षाकालमें सारी गन्दगीको लेकर वहती हुई क्षुद्रनदी जब गंगामें मिलती है तो गंगा उसे आत्मसात् कर लेती है और उसका गन्दा जल भी गंगाजलकी पवित्रताको प्राप्त हो जाता है। किन्तु यदि वह गंगाके स्वच्छ और शान्त जलमें अपनी वेगपूर्ण लहरोंको उछालने लगे तो इससे उसकी नीचता ही प्रकट होगी; क्योंकि उसका वह वेग वर्षाऋतु तक ही सीमित है। उसके वाद तो उसका अस्तित्व ही समाप्त हो जायगा और जाह्नवीका प्रवाह तो भयानक ग्रीष्ममें भी अवाध गतिसे चलता ही रहेगा।

इस पद्यमें कविने क्षुद्रोंके स्वभावका सुन्दर दिग्दर्शन कराया है।

तुलना०—क्षुद्रनदी भरि चलि उतराई। जस थोरे धन खल वौराई॥

(तुलसी०)

तरङ्ग और भङ्ग दोनों पदोंको पर्यायवाची मानकर एकत्र प्रयोगमें पुनरुक्ति समझते हुए कुछ टीकाकारोंने "गंगाकी तरङ्गोंको तुम्हें भंग न करना चाहिये" ऐसा अर्थ किया है; किन्तु हमारी समझसे यह कविभावना-के अनुरूप नहीं है—सामान्य विशेष भाव ही यहाँ अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। इसमें अप्रस्तुत वर्षानदीसे प्रस्तुत किसी क्षुद्रव्यक्तिकी; जो कि अपने आश्रयदाताके प्रति अहंकार व्यक्त करता है, प्रतीति होती है अतः अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार है।

प्रथमचरण उपेन्द्रवजा और द्वितीय चरण इन्द्रवज्रा होनेसे यह उपजाति छन्द है—अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ पादौ यदीयावुप-जातयस्ताः ॥४३॥

पौलोमीपतिकानने विलसतां गीर्वाणभूमीरुहां
येनाघ्रातसमुज्झितानि कुसुमान्याजघ्रिरे निर्जरैः।
तस्मिन्नद्य मधुव्रते विधिवशान्माध्वीकमाकांक्षति
त्वं चेदश्चसि लोभमम्बुज! तदा किं त्वां प्रति ब्रूमहे ॥४४॥

अन्वय—हे अम्बुज, पौलोमीपतिकानने, विलसतां, गीर्वाणभू-मीरुहां, येन, आघ्रातसमुज्झितानि, कुसुमानि, आजघ्रिरे, तस्मिन्, मधुव्रते, अद्य, विधिवशात्, माध्वीकम्, आकांक्षति, त्वं, लोभम्, अञ्चसि, चेत्, तदा, त्वां, प्रति, किं ब्रूमहे।

शब्दार्थ—अम्बुज != हे कमल। पौलोमीपतिकानने = शचीके पति (इन्द्र) के वन (नन्दन) में। विलसतां = विराजते हुए। गीर्वाणभूमी-रुहां = देवतरुओं (कल्पवृक्षों) के। येन = जिस (भौंरे) से। आघ्रात-समुज्झितानि = सूँघकर छोड़े हुए। कुसुमानि = फूल। निर्जरैः = देव-ताओंसे। आजघ्रिरे = सूँघे जाते हैं। तस्मिन् मधुव्रते = उस भौंरेके। अद्य = आज। विधिवशात् = भाग्यवश। माध्वीकम् = मधु (पुष्परस)।

आकांक्षति = चाहनेपर । त्वं = तुम । लोभम् अञ्चसि चेत् = लोभ करने लगो (कृपणता दिखाने लगो) । तदा = तो । त्वां प्रति = तुमसे । किं ब्रूमहे = क्या कहें ।

टीका—हे अम्बुज = कमल ! पौलोमी = शची (पुलोमजा शचीन्द्राणी—अमरः) तस्याः पतिः = इन्द्रः तस्य कानने = उद्याने नन्दनवने इत्यर्थः । विलसतां = भ्राजताम् । गीर्वाणाः = देवाः (अमरा निर्जरा देवाः ···गीर्वाणा दानवारयः—अमरः) तेषां भूमीरुहाः = वृक्षाः (वृक्षो महीरुहः शाखी—अमरः) तेषां, सुरतरूणां कल्पवृक्षादीनामित्यर्थः । कुसुमानि = पुष्पाणि । येन = भ्रमरेण आघ्रातसमुज्झितानि = पूर्वमाघ्रातानि पश्चात्समुज्झितानि, आस्वाद्य परित्यक्तानीत्यर्थः । निर्जरैः = देवैः, आजघ्रिरे = आघ्रातानि । एवंभूते तस्मिन् । मधुव्रते = भ्रमरे । अद्य = साम्प्रतं विधिवशात् = भाग्यवशात् (भाग्यं स्त्री नियतिर्विधिः—अमरः) माध्वीकं = मधुरं मधु । पुष्परसमिति यावत् । आकाङ्क्षति = त्वत्सकाशाद्याचति सति । त्वम् । लाभं = कार्पण्यम् । अञ्चसि = स्वीकरोषि चेत् । तदा = त्वां प्रति = त्वद्विषये । किं ब्रूमहे = किं कथयामः । न किमपि कथनीयमितिभावः ।

भावार्थ—हे अम्बुज ! इन्द्रके नन्दनवनमें शोभित सुरतरुओं (कल्पवृक्षादि) के पुष्पोंको, जिस भ्रमरके रसास्वादनकर छोड़ देनेके वाद देवतालोग सूँघते हैं, वही भ्रमर यदि भाग्यवशात् तुम्हारे परागकी आकांक्षा करता है और तुम उसे देनेमें कृपणता दिखाते हो तो तुम्हें क्या कहें ।

टिप्पणी—सदा एकसी स्थिति किसीकी नहीं रहती । भाग्यपंक्ति रथके पहियेके अरोंकी भाँति घूमती है । आज जो महान् ऐश्वर्य का उपभोग कर रहा है वही कलको किसी सामान्य व्यक्तिकी शरणमें जा सकता है । ऐसी स्थितिमें वह सामान्य व्यक्ति उस शरणागतकी पूर्वदशाका

विचार न करता हुआ तिरस्कार करे या उसकी अभिलाषा पूर्ण करनेमें कंजूसी करे तो उसके इस अविवेकको क्या कहा जाय। इसी भावको कविने इस कमलान्योक्ति द्वारा व्यक्त किया है। अम्बुजपद साभिप्राय है। जल (डलयोरभेदात् जड़) से उत्पन्न कमलका जड़बुद्धि या विवेकशून्य होना स्वाभाविक ही है। पौलोमी—(पुलोम्नः अपत्यं स्त्री) पुलोमा-नामका एक दानव था। इन्द्रने उसे मारकर उसकी पुत्रीसे विवाह कर लिया। वही पौलोमी शची इद्राणी आदि नामोंसे कही जाती है। इसमें परिकर अलंकार तथा शार्दूलविक्रीडित छन्द है ॥४४॥

भुक्ता मृणालपटली भवता निपीता-
न्यम्बूनि यत्र नलिनानि निषेवितानि ।
रे राजहंस वद तस्य सरोवरस्य
कृत्येन केन भवितासि कृतोपकारः ॥४५॥

अन्वय—रे राजहंस! यत्र, भवता, मृणालपटली, भुक्ता, अम्बूनि, निपीतानि, नलिनानि, निषेवितानि, तस्य, सरोवरस्य, केन, कृत्येन, कृतोपकारः, भवितासि, वद ।

शब्दार्थ—रे राजहंस = हे हंसोंमें श्रेष्ठ ! यत्र = जहाँ ! भवता = आपने । मृणालपटली = कमलनालके समूहको । भुक्ता = खाया । अम्बूनि = जलोंको । निपीतानि = पिया । नलिनानि = कमलोंको । निषेवितानि = उपभोग किया । केन कृत्येन = किस कार्यके द्वारा । तस्य सरोवरस्य = उस तड़ागके । कृतोपकारः = उपकार किया हुआ । भवि-तासि = होओगे । वद = वोलो ।

टीका—रे राजहंस = मरालनायक ! यत्र = यस्मिन् सरोवरे। भवता । मृणालानां = विसतन्तूनां पटली = संहतिः । भुक्ता = आस्वादिता । अम्बूनि = जलानि । निपीतानि = रसितानि । नलिनानि

=कमलानि । निषेवितानि = उपवेशनादिभिरुपभुक्तानि । तस्य = तवैवं कृतोपकारस्य । सरोवरस्य = कासारश्रेष्ठस्य । केन । कृत्येन = कार्येण । कृतः उपकारो येन स कृतोपकारः = विहितप्रत्युपकृतिः । भवितासि = भविष्यसीत्यर्थः वद = कथय ।

भावार्थ—हे राजहंस ! तुमने जिस सरोवरमें रहकर विसतन्तुओंका जी भरकर भोजन किया, जल पिया, कमलोंका यथेच्छ उपयोग किया, उस सरोवरके उपकारका बदला तुम किस कार्यसे दोगे ।

टिप्पणी—शास्त्रोंका आदेश है—यदि कोई हमारा किंचित् भी उपकार करता है तो हमें भी बदलेमें उसका कुछ उपकार करना ही चाहिये; अन्यथा हम उसके ऋणी रह जायेंगे । किन्तु जिसने जीवनमें ऐश्वर्यकी सभी सामग्रियाँ हमारे लिये उपलब्ध कर दी हैं उसके उपकार-का बदला हम क्या करके चुकायें । इसी भावको लेकर कविने यह हंसान्योक्ति कही है । सरके साथ 'वर' (श्रेष्ठ) यह विशेषण उसकी सामर्थ्यशालिता और निःस्वार्थ भावका द्योतक है । इसी प्रकार राजहंस सम्बोधनके साथ रे यह पद हंसकी तुच्छता और अल्प सामर्थ्यको सूचित करता है । तात्पर्य यह है कि दूसरोंसे हम उतनी ही सहायता लें जितने-का प्रत्युपकार कर सकनेकी सामर्थ्य रक्खें । यह परिकराङ्कुर अलंकार है । वसन्ततिलका छन्द है ॥ ४५ ॥

प्रारम्भे कुसुमाकरस्य परितो यस्योल्लसन्मञ्जरी-
पुञ्जे मञ्जुलगुञ्जितानि रचयंस्तानातनोरुत्सवान् ।
तस्मिन्नद्य रसालशाखिनि दशां दैवात् कृशामञ्चति
त्वं चेन्मुञ्चसि चञ्चरीक विनयं नीचस्त्वदन्योऽस्ति कः ॥४६॥

अन्वय—चञ्चरीक ! कुसुमाकरस्य, प्रारम्भे, यस्य, परितः, उल्लसन्मञ्जरीपुञ्जे, मञ्जुलगुञ्जितानि, रचयन्, तान्, उत्सवान्,

आतनोः, अद्य, तस्मिन्, रसालशाखिनि, दैवात्, कृशां, दशाम्, अञ्चति, त्वं, विनयं, मुञ्चसि, चेत्, त्वदन्यः, नीचः, कः, अस्ति।

शब्दार्थ—चञ्चरीक = हे भ्रमर ! कुसुमाकरस्य = वसन्तके। प्रारम्भे = शुरूमें। यस्य = जिसके। परितः = चारों ओर। उल्लसन्मञ्जरीपुञ्जे = खिली हुई बौरके गुच्छोंमें। मञ्जुलगुञ्जितानि = मधुरगुञ्जारोंको। रचयन् = करता हुआ। तान् उत्सवान् = उन उत्सवोंको। आतनोः = (तुम) करते थे। अद्य = आज। तस्मिन् = उसी। रसालशाखिनि = आमके वृक्षके। दैवात् = भाग्यसे। कृशां दशां = क्षीण अवस्थाको। अञ्चति = प्राप्त होने पर। त्वं = तुम। विनयं मुञ्चसि चेत् = नम्रताको छोड़ते हो (उद्दण्डता करते हो) तो। त्वत् अन्यः = तुमसे दूसरा। नीचः = नीच। कः अस्ति = कौन है ?

टीका—हे चञ्चरीक = भ्रमर ! कुसुमाकरस्य = वसन्तस्य। प्रारम्भे प्रवर्तनकाले, यस्य = रसालवृक्षस्य। परितः = सर्वतः नत्वेक एव भागे। उल्लसन्मञ्जरीपुञ्जे उल्लसन्तीनां = विकसितानां मञ्जरीणां = वल्लरीणां पुञ्जे = समूहे। मञ्जुलानि = मधुराणि च तानि गुञ्जितानि = गुञ्जारवाणि। रचयन् = कुर्वन् सन्। तान् = वसन्तोद्भवान्। उत्सवान् = इच्छाप्रसरान्। आतनोः = विस्तारितवानसि। अद्य। तस्मिन् = पूर्वोपभुक्त एव। रसालस्य = आम्रस्य, शाखी = वृक्षः तस्मिन् (आम्रश्चूतो रसालोऽसौ इति, वृक्षो महीरुहः शाखी इति च—अमरः) दैवात् = भाग्यवशात् (दैवं दिष्टं भागधेयं भाग्यं—अमरः) कृशां = क्षीणां। दशाम् = अवस्थाम्। अञ्चति = स्वीकुर्वति सति। त्वं। विनयं = प्रश्रयं। मुञ्चसि = जहासि चेत्। त्वत् = त्वत्तः अन्यः = इतरः। नीचः = कृतघ्न इति यावत्। कः अस्ति। न कोऽपीति भावः।

भावार्थ—हे भ्रमर ! वसन्तके प्रारम्भमें जिस आम्रवृक्षकी चारों ओर खिली हुई मञ्जरियोंके समूहमें मधुर गुंजार करते हुए तूने इच्छा-

विहार किये हैं। आज भाग्यवशात् उसी आमके, पल्लवादिसे हीन हो जानेपर तू उसे छोड़ देता है तो तेरे समान नीच संसारमें कौन होगा?

टिप्पणी—जिसके आश्रित रहकर परम ऐश्वर्यका उपभोग किया है, दैवयोगसे उसके विपत्तिग्रस्त होनेपर यदि उसका साथ छोड़ दिया जाय तो इससे बढ़कर कृतघ्नता दूसरी हो नहीं सकती। केवल अपने ही स्वार्थ-को देखनेवाला व्यक्ति नीच ही नहीं, परम नीच है। इसी भावको इस अन्योक्तिसे व्यक्त किया गया है। यहाँ रसाल पद उसकी रसवत्ता अर्थात् सज्जनताका द्योतक है। इस समय दैवयोगसे वह पतझड़ भले ही हो गया है; किन्तु पुनः वसन्त आनेपर उसमें भौंरे मँडराने लगेंगे और वह पराग लेनेसे किसीको मना नहीं करेगा। यह उसकी महत्ताका सूचक है। इसी प्रकार चञ्चरीक पद भी भ्रमरकी स्वार्थपरताका द्योतक है; क्योंकि वह स्वभावतः चञ्चल है जहाँ उसे रस मिलता है वहीं दौड़ा फिरता है। उसकी यह विचरणशीलता और स्वार्थान्धता संसार जानता है। इससे उसका औद्धत्य भी प्रकट होता है। उत्प्रेक्षा अलंकार है।

शार्दूलविक्रीडित छन्द है (दे० ल० श्लो० ३) ॥४६॥

एणीगणेषु गुरुगर्वनिमीलिताक्षः

किं कृष्णसार खलु खेलसि काननेऽस्मिन्।

सीमामिमां कलय भिन्नकरीन्द्रकुम्भ-

मुक्तामयीं हरिविहारवसुन्धरायाः ॥४७॥

अन्वय—कृष्णसार! गुरुगर्वनिमीलिताक्षः, अस्मिन्, कानने, एणीगणेषु, किं खेलसि, खलु, इमां, भिन्नकरीन्द्रकुम्भमुक्तामयीं, हरिविहारवसुन्धरायाः, सीमां, कलय।

शब्दार्थ—कृष्णसार = हे कृष्णसार नामक मृग! गुरुगर्व-निमीलिताक्षः = अत्यन्त घमण्डसे आँख मूँदे हुए। अस्मिन् कानने =

इस वनमें। एणीगणेषु = हरिणियोंके बीच। किं खेलसि खलु = क्या क्रीड़ा करते हो। इमां = इस (भूमि) को तो। भिन्न = फाड़े हुए करीन्द्रकुम्भ = गजेन्द्रोंके कपोलोंकी, मुक्तामयीं = मोतियों (गजमुक्ताओं) से भरी। हरिविहारवसुन्धरायाः = सिंहकी क्रीड़ाभूमिकी। सीमां कलय = सीमा समझो।

टीका—हे कृष्णसार = तदाख्य मृगश्रेष्ठ! गुरुः = महान्, स चासौ गर्वश्च तेन निमीलिते = मुद्रिते अक्षिणी = नेत्रे यस्य सः परमाभिमान-मुकुलितलोचन इत्यर्थः। एवंभूतः सन् अस्मिन्। कानने = अरण्ये (अटव्यरण्यं विपिनं गहनं काननं वनम्—अमरः)। किम् इत्याक्षेपे। एणीनां = मृगीणां गणाः = समूहास्तेषु एणीगणेषु। खेलसि = क्रीडसि। खलु। इमां तु। भिन्नकरीन्द्रकुम्भमुक्तामयीं भिन्नानां = विदारितानां, करीन्द्रकुम्भानां = गजेन्द्रकपोलानां या मुक्ताः = मौक्तिकानि तैः प्रचुरा, ताम्। हरेः = केसरिणः (हर्यक्षः केसरी हरिः—अमरः) या विहार-वसुन्धरा = विलासभूमिः तस्याः सीमां = मर्यादाम्, आकलय = बुद्धयस्व।

भावार्थ—हे कृष्णसार! अत्यन्त अभिमानपूर्वक आँखें मूँदकर इस वनमें मृगीगणोंसे क्रीड़ा क्या कर रहे हो? गजेन्द्रोंके विदीर्ण कपोलोंसे बिखरी हुई गजमुक्ताओंसे आच्छादित इस भूमिको तो सिंहकी क्रीड़ा-स्थलीकी सीमा ही समझो।

टिप्पणी—घरकी औरतोंमें गप हाँक लेना एक बात है और विद्व-त्समाजमें पाण्डित्यपूर्ण प्रवचन करना दूसरी बात। कृष्णसारको सम्बोधित कर यह अन्योक्ति ऐसे ही अल्पज्ञको लक्ष्य करके कही गयी है। प्रकाण्ड विद्वान् जहाँ हों वहाँ पर असम्बद्ध और अनर्गल प्रलाप ऐसे ही लगते हैं जैसे कि बड़े-बड़े गजेन्द्रोंके गण्डस्थल फाड़कर सिंहने जहाँ गजमुक्ताओंके ढेर लगा रक्खे हों वहाँ कोई मृग हरिणियोंसे कलोल करने लगे। गुरुगर्व-निमीलिताक्षः इसकी पुष्टि करता है। अत्यन्त अभिमानसे इतना अन्धा

(विवेकहीन) हो गया है कि उसे नहीं सूझता मैं कैसे स्थानमें हूँ और यहाँ मुझे क्या करना चाहिये। "क्रीड़ाभूमि की सीमा समझो" का अर्थ है सिंह यहाँ तक घूमता रहता है। इस पद्यसे साधारण विद्वान्‌के प्रति कविका यह भाव स्पष्ट लक्षित होता है कि मेरे प्रकाण्ड पाण्डित्यके सामने तुम्हें दुम दवाकर भागना चाहिये, फिर भी तुम यहाँ अनर्गल प्रलाप करनेमें लगे हो। कृष्णसार-एक पवित्र मृग माना गया है। धर्मशास्त्रोंमें यह कहा गया है कि जिस देशमें कृष्णसागर मृग विचरण करता है वह भूमि पवित्र मानी जाती है। लोकोक्ति तथा अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार है। वसन्ततिलका छन्द है ॥ ४७ ॥

जठरज्वलनज्वलताप्यपगतशङ्कं समागतापि पुरः।
करिणामरिणा हरिणा हरिणाली हन्यतां नु कथम् ॥४८॥

अन्वय—करिणाम्, अरिणा, हरिणा, जठरज्वलनज्वलता, अपि, अपगतशङ्कं, पुरः समागता, हरिणाली, कथं, नु, हन्यताम्।

शब्दार्थ—करिणाम् = हाथियोंके। अरिणा = शत्रु। हरिणा = सिंह-द्वारा। जठरज्वलनज्वलता=पेटकी अग्नि (भूख) से जलते (संतप्त होते) हुए भी। अपगतशङ्कं = निःशंक होकर। पुरः समागता = सामने आई हुई। हरिणाली = हरिणोंकी पंक्ति। कथं नु = कैसे। हन्यताम् = मारी जाय।

टीका—करिणां = कुञ्जराणां (कुञ्जरो वारणः करी—अमरः)। अरिणा = रिपुणा। हरिणा = सिंहेन। जठरस्य = उदरस्य ज्वलनेन = वह्निना ज्वलतीति जठरज्वलनज्वलन् तेन = क्षुधया अत्यन्तं परितप्यता। अपि। अपगतशङ्कम् अपगता = दूरीभूता शङ्का = सन्देहो यस्मिन् कर्मणि तद्यथास्यात्तथा निःशङ्कमित्यर्थः। पुरः = अग्रतः। समागता = समायाता अपि, नतु दैवात् प्राप्तेत्यर्थः। हरिणानां = मृगाणाम् आली = पंक्तिः। कथं नु = कथमिव। हन्यतां = वध्येत।

भावार्थ—बड़े-बड़े गजेन्द्रोंपर हाथ साफ करनेवाला मृगेन्द्र भूखकी ज्वालासे भलेही जल रहा हो ; किन्तु निःशङ्क होकर सामने आई हुई भी हरिणपंक्तिको कैसे मारेगा ?

टिप्पणी—महान्‌की महत्ता इसीमें है कि बड़ीसे बड़ी विपत्ति आने पर भी वह अपने स्वरूपकी रक्षा कर सके, इसी भावको कविने इस अन्योक्ति द्वारा प्रकट किया है। बड़े-बड़े गजेन्द्रोंको मारनेवाला सिंह उदरज्वालाकी क्षणिक शान्तिके लिये हरिणपंक्तिपर हाथ नहीं उठा सकता; क्योंकि यह उसके स्वरूपके अनुकूल नहीं है। तुलना०—"सर्वः कृच्छ्रगतोऽपि वाञ्छति जनः सत्त्वानुरूपं फलम्" प्रीति या वैर बराबर बलशालीसे ही शोभा देता है। 'हरिणाली' इस स्त्रीलिंग प्रयोगसे उसकी स्वतः अवध्यता व्यञ्जित होती है। फिर वह तो निःशङ्क होकर उसके (सिंहके) सामने आती है। क्योंकि हरिणालीको उसकी महत्तापर विश्वास है कि वह क्षुधाकी व्याकुलतामें भी अपना विवेक नहीं खो सकता।

यह भी अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार है। इसमें सिंहसे किसी अभेद्य पराक्रमी व्यक्तिकी और हरिणालीसे क्षुद्र बलवाले व्यक्तियोंकी अभिव्यक्ति होती है। आर्या छन्द है ॥४८॥

येन भिन्नकरिकुम्भविस्खलन्मौक्तिकावलिभिरञ्चिता मही।
अद्य तेन हरिणान्तिके कथं कथ्यतां नु हरिणा पराक्रमः॥४९॥

अन्वय—येन भिन्नकरिकुम्भविस्खलन्मौक्तिकावलिभिः, मही, अञ्चिता, तेन, हरिणा, अद्य, हरिणान्तिके, पराक्रमः, कथं, नु, कथ्यताम्।

शब्दार्थ—येन = जिसने। भिन्नकरिकुम्भ = फाड़े हुए हाथियोंके गण्डस्थलोंसे, स्खलत् = गिरते हुए, मौक्तिकावलिभिः = गजमुक्ताओंके झुण्डोंसे। मही = पृथ्वी। अञ्चिता = भर दी। तेन हरिणा = उस सिंहसे।

अद्य = आज । हरिणान्तिके = हरिणोंके समीप । पराक्रमः = (अपना) विक्रम । कथं नु = किस प्रकार । कथ्यताम् = कहा जाय ।

टीका—येन = हरिणा । भिन्नाः = विदारिता ये करिणां कुम्भाः = गजकपोलाः तेभ्यः विस्खलतां = प्रच्युतानां मौक्तिकानां = गजमुक्तानां अवलिभिः = श्रेणीभिः । मही = पृथ्वी । अञ्चिता = पूजिता । तेन एव एवंपराक्रमशालिना । हरिणा = सिंहेन । अद्य = साम्प्रतं । हरिणान्तिके = मृगसन्निधौ । पराक्रमः = स्वप्रतापः । कथं = केन रूपेण । कथ्यतां = प्रकटीक्रियताम् इत्यर्थः ।

भावार्थ—जिस सिंहने बड़े-बड़े हाथियोंके कपोलोंको फाड़कर उनसे गिरते हुए गजमुक्ताओंके ढेरोंसे पृथ्वीको भर दिया वही सिंह साधारण मृगपर अपना पराक्रम क्या प्रकट करे ।

टिप्पणी—बड़ोंका पराक्रम भी बड़ोंपर ही शोभा देता है । इसी भावको इस अन्योक्ति द्वारा व्यक्त किया गया है । पूर्व पद्यकी अपेक्षा इसमें यह अन्तर है कि वहाँ हरिणाली एक प्रकारसे शरणागत थी; किन्तु यहाँ हरिण यदि औद्धत्य भी करे तो भी क्षुद्र समझकर उसे छोड़ देनेमें ही सिंहकी प्रतिष्ठा है । इसमें अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार है ।

रथोद्धता छन्द है लक्षण—रो न राविह रथोद्धता लगौ (वृत्त०) ॥४९॥

स्थितिं नो रे दध्याः क्षणमपि मदान्धेक्षण सखे
गजश्रेणीनाथ त्वमिह जटिलायां वनभुवि ।
असौ कुम्भिभ्रान्त्या खरनखरविद्रावितमहा-
गुरुग्रावग्रामः स्वपिति गिरिगर्भे हरिपतिः ॥५०॥

अन्वय—रे मदान्धेक्षण ! सखे ! गजश्रेणीनाथ ! इह, जटिलायां वनभुवि, क्षणमपि, स्थितिं, नो, दध्याः, कुम्भिभ्रान्त्या, खरनखर-

विद्रावितमहागुरुग्रावग्रामः, असौ, हरिपतिः, गिरिगर्भे, स्वपिति।

शब्दार्थ—रे मदान्धेक्षण = अरे मद (घमंड) से नष्टदृष्टिवाले। सखे = मित्र। गजश्रेणीनाथ = हाथियोंके समूहके स्वामी। इह = इस। जटिलायां = कठिन। वनभुवि = वनभूमिमें। क्षणमपि = क्षणभर भी। स्थितिं नो दध्याः = स्थित न रहना। कुम्भिभ्रान्त्या = हाथियोंकी भ्रान्तिसे (अर्थात् हाथी समझकर)। खरनखर = तीक्ष्ण नखोंसे, विद्रावित = विदीर्ण कर दिया है, महागुरु = बहुत भारी, ग्रावग्राम = पत्थरोंके समूहोंको जिसने, ऐसा। असौ = यह। हरिपतिः = मृगेन्द्र। गिरिगर्भे = पर्वत-गुफामें स्वपिति = सो रहा है।

टीका—मदेन = गर्वेण मदजलेन वा अन्धे = दृष्टिविहीने अक्षिणी = नेत्रे यस्य तत्सम्बुद्धौ रे मदान्धेक्षण ! एतेनातिशयाविवेकित्वं सूच्यते। सखे = मित्र ! एतेनोपदेशयोग्यत्वं व्यज्यते। गजश्रेणीनां = हस्तिपंक्तीनां नाथः = स्वामी, तत्सम्बुद्धौ हे गजपते ! इत्यर्थः। इह = अस्यां। जटिलायां = जटाभिरिव लताभिः परिपूर्णायां। वनभुवि = अरण्यभूमौ। क्षणं = किञ्चित्कालम्। अपि, स्थितिं नो दध्याः = अवस्थानं मा कुरु। यतः। कुम्भिनां = गजमस्तकानां भ्रान्त्या = विभ्रमेण। खरैः = तीक्ष्णैः नखरैः = कररुहैः विद्राविताः = विदीर्णाः महतां = विशालानां गुरूणां = भारवतां ग्रावाणां = शिलोच्चयानां ग्रामाः = समूहाः येन सः, एवंभूतः (पुनर्भवः कररुहो नखोऽस्त्री नखरोऽस्त्रियाम् इति, अद्रिगोत्रगिरिग्रावाचलशैलशिलोच्चयाः, इति च—अमरः) असौ = प्रसिद्धः हरिपतिः = मृगेन्द्रः। गिरेः गर्भः तस्मिन् गिरिगर्भे = पर्वतगुहायां। स्वपिति = शेते।

भावार्थ—अरे मदान्ध ! मित्र ! गजेन्द्र ! इस जटिल वनभूमिमें एक क्षणके लिये भी न रुकना, क्योंकि गजमस्तक समझकर अपने तीक्ष्णनखसे जिसने बड़े-बड़े विशालकाय पर्वतशिखरोंको विदीर्ण कर डाला वही मृगेन्द्र इस गिरिगुफामें सोया है।

टिप्पणी—किसी प्रकारका खतरा होनेसे पूर्व ही सावधान हो जाना

बुद्धिमान्‌का लक्षण है। ऐसे सामर्थ्यशालीके समीप, जोकि किंचिन्मात्र भी दूसरेका उत्कर्ष सहन नहीं कर सकता, मदोन्मत्त होकर रहना अपने जीवनको स्वयं ही खतरेमें डालना है। इसी भावको इस अन्योक्ति द्वारा व्यक्त किया है। जो मृगेन्द्र गजमस्तक समझकर पर्वतशिखरोंको भी अपने तीक्ष्ण नखोंसे विदीर्ण कर डालता है। वही भला, वास्तविक गजकी उपस्थिति को एक क्षणके लिये भी कैसे सहन करेगा। 'मदान्धेक्षण' यह विशेषण स्थूलकाय गजेन्द्रकी विवेकशून्यताको सूचित करता है। जब सिंह जग जायगा तो तुम विशालकाय होनेसे भाग भी न सकोगे, लता-संकुल इस वनभूमिमें उलझ जाओगे, अतः एक क्षण भी यहाँ न ठहरो, यह भाव है।

इस पद्यमें पर्वत-शिखरको गजमस्तक समझनेसे भ्रान्तिमान् और वनभूमिमें एकक्षण भी न रुकने रूप अर्थका समर्थन सिंहके शयनरूप अर्थ द्वारा करनेसे काव्यलिंग अलंकार है अतः दोनों की संसृष्टि है। शिखरिणी छन्द है। ॥५०॥

गिरिगह्वरेषु गुरुगर्वगुम्फितो
गजराजपोत न कदापि सञ्चरेः।
यदि बुध्यते हरिशिशुः स्तनन्धयो
भविता करेणुपरिशेषिता मही ॥५१॥

अन्वय—गजराजपोत! गुरुगर्वगुम्फितः, गिरिगह्वरेषु, कदापि, न, सञ्चरेः, यदि, स्तनन्धयः, हरिशिशुः, बुध्यते, मही, करेणुपरि-शेषिता, भविता।

शब्दार्थ—गजराजपोत = ऐ गजेन्द्रके बालक! गुरुगर्वगुम्फितः = अत्यन्त घमंडसे भरे (तुम)। गिरिगह्वरेषु = पर्वतोंकी गुफाओंमें। कदापि = कभी भी। न सञ्चरेः = मत घूमना। यदि। स्तनन्धयः = दुध-

मुँहा भी। हरिशिशुः = सिंहका बच्चा। बुध्यते = जाग जाता है (तो)। मही = पृथ्वी। करेणुपरिशेषिता = हथिनियाँ ही जिसमें बच गई हैं ऐसी। भविता = हो जायगी।

टीका—गजराजस्य = गजेन्द्रस्य पोतः = शिशुः तत्सम्बुद्धौ, हे करिशावक! इत्यर्थः (यानपात्रे शिशौ पोतः—अमरः) गुरुश्चासौ गर्वश्च तेन गुम्फितः = परमवलाभिनिवेशावेशित इत्यर्थः। सन्। गिरिगह्वरेषु गिरेः = पर्वतस्य गह्वराणि = गुहा इति यावत्, तेषु। कदापि = कस्मिंश्चिदपि काले। न सञ्चरेः = विचरणं न कुर्याः। यदि। स्तनन्धयः = मातुः स्तनपाननिरतः अपि। एतेनातिशिशुत्वं व्यज्यते। हरेः = सिंहस्य शिशुः = शावकः। बुध्यते = जागर्ति चेत्। तर्हि। मही = पृथ्वी। करेणवः = हस्तिन्य एव परिशेषिताः = अवशिष्टाः कृताः यस्यां सा एवं भूता। निहताखिलगजेन्द्रा इत्यर्थः। भविता = भविष्यति।

भावार्थ—हे गजशावक! अत्यन्त मदमें चूर होकर कभी भी इन गिरिगुफाओंमें विचरण न करना; क्योंकि यदि कहीं सिंहका दुधमुँहा बच्चा भी जाग गया, तो समझो संसारमें केवल हथिनियाँ ही रह शेष जायेंगी।

टिप्पणी—शत्रु छोटा है इसलिये उसकी उपेक्षा कभी नहीं करनी चाहिये। यदि वह तेजस्वी एवं शौर्यवान् है तो निश्चय ही समूल विनाश कर डालेगा। इसी भावको इस अन्योक्तिसे व्यक्त किया है। यद्यपि इसीसे मिलता-जुलता भाव पूर्व श्लोकमें व्यक्त कर चुके हैं फिर भी यह पुनरुक्ति नहीं है। क्योंकि उसमें उन्मत्त गजेन्द्रको मृगेन्द्रसे सावधान किया गया है और यहाँ गजपोतको सिंहशावकसे। साथ ही 'स्तनंधय' इस विशेषणसे सिंहशिशुका स्वाभाविक शौर्य भी प्रकट होता है। अर्थात् गर्व क्या करते हो सिंहका दुधमुँहा बच्चा भी यदि जाग गया तो तुम्हारे वंशोच्छेदनके लिये पर्याप्त है, फिर मृगेन्द्रकी तो बात ही क्या है। हथिनियोंको स्त्रीत्वेन अवध्य समझकर उनपर हाथ नहीं उठायेगा; क्योंकि अबलाओं पर हाथ छोड़ना शूरताके विपरीत है।

इस पद्यमें अतिशयोक्ति अलंकार है। मञ्जुभाषिणी छन्द है। लक्षण—स ज सा ज गौ भवति मञ्जुभाषिणी (वृत्त०)॥ ५१॥

निसर्गादारामे तरुकुलसमारोपसुकृती
कृती मालाकारो वकुलमपि कुत्रापि निदधे।
इदं को जानीते यदयमिह कोणान्तरगतो
जगज्जालं कर्ता कुसुमभरसौरभ्यभरितम् ॥५२॥

अन्वय—निसर्गात्, आरामे, तरुकुलसमारोपसुकृतो, कृती, मालाकारः, कुत्रापि, वकुलम्, अपि, निदधे, इदं, कः, जानीते, यत्, इह, कोणान्तरगतः, अयम्, जगज्जालं, कुसुमभरसौरभ्यभरितं, कर्ता।

शब्दार्थ—निसर्गात् = स्वभावसे ही। आरामे = वगीचेमें। तरुकुलसमारोपसुकृती = वृक्षसमूहोंको रोपनेमें विख्यात। कृती = कुशल। मालाकारः = मालीने। कुत्रापि = कहींपर। वकुलम् अपि = वकुलवृक्षको भी। निदधे = डाल दिया। इदं कः जानीते = यह कौन जानता था। यत् = कि। इह = यहाँ। कोणान्तरगतः = एक कोनेमें पड़ा हुआ। अयं = यह वकुल। जगज्जालं = भुवनमण्डलको। कुसुमभरसौरभ्यभरितं = अत्यन्त फूलोंकी सुगन्धसे भरा हुआ। कर्ता = कर देगा।

टीका—निसर्गात् = स्वभावादेव। आरामे = उपवने (आरामं स्यादुपवनम्—अमरः) तरूणां = वृक्षाणां यत् कुलं = समूहः, तस्य समारोपः = सम्यगावापः, तेन यत् सुकृतं = पुण्यं (पुण्यश्रेयसी सुकृतं वृषः — अमरः) तदस्यास्तीति सः, सद्वृक्षारोपणेन पुण्यवानित्यर्थः। अत एव कृती = कुशलः। मालाकारः = मालिकः। उद्यानपालक इतियावत्। (मालाकारस्तु मालिकः—अमरः) कुत्रापि = कस्मिन्नपि कोणे। वकुलं = केसरम् (स्यादथ केसरे वकुलः—अमरः) अपि। अत्र अपिद्वयमुपेक्षा-

सूचकम् । निदधे = अवारोपयत् । किन्तु । इदं कः जानीते = ज्ञातवान् । यत् इह = उद्याने । कोणस्य = एकप्रान्तमात्रस्य अन्तरं = मध्यं गतः = स्थितः । अयं = वकुलः । जगज्जालं = भुवनमण्डलं । कुसुमानां = पुष्पाणां यो भरः = भारः तस्य यत् सौरभं = सौगन्ध्यं तेन भरितम् = पूरितम् । कर्ता = करिष्यतीति भावः ।

भावार्थ—स्वभावसे ही उपवनमें वृक्षारोपणका पुण्य कमाते हुए कुशल मालीसे कहीं कोनेपर रोपा हुआ यही बकुल, अपने पुष्पभारकी अनुपम सुगन्धसे भुवनमण्डलको भर देगा, यह कौन जानता था ।

टिप्पणी—कोई कितनी ही उपेक्षा करे यदि अपनेमें गुण है तो स्वयं ही विश्वमें यश फैलेगा । इसी भावको वकुलकी इस अन्योक्ति द्वारा व्यक्त किया है । मालीने तो साधारण पेड़ोंकी भाँति वकुलको भी एक कोनेमें रोप दिया था । किन्तु फूलनेपर उसकी सुगन्ध विश्वमें फैल गयी । ऐसी कोई कल्पना भी नहीं करता था कि इस साधारण वृक्षमें इतनी गन्ध हो सकती है । इसी प्रकार विद्वान् का अल्पज्ञजन भले ही आदर न करें और उसे उचित पद भले ही न प्राप्त हो, किन्तु उसकी विद्वत्ता और गुणोंका प्रकाश तो संसारमें फैल ही जायगा । इस पद्यमें वकुलकी गन्धद्वारा विश्वके पूरणरूप पदार्थका असंभावनीयत्वेन वर्णन किया गया है अतः असंभव अलंकार है—"असंभवोऽर्थनिष्पत्तेरसंभाव्यत्ववर्णनम् (चन्द्रा०) । शिखरिणी छन्द है । ॥५२॥

यस्मिन् खेलति सर्वतः परिचलत्कल्लोलकोलाहलै-
र्मन्थाद्रिभ्रमणभ्रमं हृदि हरिदन्तावलाः पेदिरे ।
सोऽयं तुङ्गतिमिङ्गिलाङ्गकवलीकारक्रियाकोविदः
क्रोडे क्रीडतु कस्य केलिकलहत्यक्तार्णवो राघवः ॥५३॥

अन्वय—यस्मिन्, खेलति, सर्वतः, परिचलत्कल्लोलकोला-

हलैः, हरिद्न्तावलाः, हृदि, मन्थाद्रिभ्रमणभ्रमं, पेदिरे, सः, अयं, तुङ्गतिमिङ्गिल······कोविदः, राघवः, केलिकलहत्यक्तार्णवः, कस्य, क्रोडे, क्रीडतु ।

शब्दार्थ—यस्मिन् खेलति = जिसके खेलनेपर । सर्वतः = चारों-ओर । परिचरत् = हिलती हुई, कल्लोलकोलाहलैः = लहरोंके कोलाहलोंसे । हरिद्न्तावलाः = दिग्गज । हृदि = मनमें । मन्थाद्रिभ्रमणभ्रमं = मन्दराच-लके घूमनेकी भ्रान्तिको । पेदिरे = प्राप्त होते थे । सः अयं = वही यह । तुंग = ऊँचे ऊँचे, तिमिङ्गिल = इस नामके जो मत्स्य (उनके), अङ्ग = शरीरोंकी, कवलीकारक्रिया = निगलजानेका कर्म, (उसमें) कोविदः = चतुर । केलिकलह = खेलही खेलमें, त्यक्तार्णवः = छोड़ दिया है समुद्र जिसने ऐसा । राघवः = राघव (नामका मत्स्य)। कस्य क्रोडे = किसकी गोदमें । क्रीडतु = खेले ।

टीका—यस्मिन् = राघवे । सोऽयमित्यनेन सम्बन्धः । खेलति = क्रीड़ति सति । सर्वतः परिचलतां = परिवर्तमानानां कल्लोलानां = तरङ्गाणाम् कोलाहलैः = ध्वनिभिः । हरिद्न्तावलाः हरितां = दिशां ये दन्तावलाः = हस्तिनः । दिग्गजा इति यावत् (दिशस्तु······आशाश्च हरितश्च ताः इति, दन्ती दन्तावलो हस्ती इति च—अमरः)। हृदि = मनसि । मन्थाद्रेः = मन्दराचलस्य यत् भ्रमणं = परिवर्तनम् तस्य भ्रमः = भ्रान्तिः, तम् । (भ्रान्तिर्मिथ्यामतिर्भ्रमः—अमरः) पेदिरे = प्रापुः । सः = एवंभूतः । अयं = प्रत्यक्षः । तुङ्ग···कोविदः तुङ्गानाम् = उन्नतानां तिमिङ्गिलानां = मत्स्यविशेषाणां यानि अङ्गानि = शरीराणि तेषां कवली-कारस्य = ग्रासीकरणस्य या क्रिया=कर्म, तस्यां कोविदः = कुशलः । तिमि-ङ्गिलादिमहामत्स्यनिगरणकलायां सुतरां निपुण इत्यर्थः । राघवः = तन्नामको मत्स्यविशेषः । केलिकलहे = क्रीडाविवादे, त्यक्तः = विसृष्टः अर्णवः = समुद्रो येन एवंभूतः । कस्य = सरसः क्रोडे = वक्षसि (क्रोडा क्रोडं च वक्षसि—अमरः) क्रीडतु = खेलतु इत्यर्थः ।

भावार्थ—जिसके क्रीड़ा करते समय उलटने-पुलटनेके कारण उठी हुई लहरोंके कोलाहलसे दिग्गजोंको समुद्रमन्थनका भ्रम होता है ऐसा, तिमिंगिलादि विशालकाय मत्स्योंको सशरीर निगलनेवाला महा-मत्स्य राघव यदि बात ही बातमें समुद्रसे झगड़ा करले तो फिर क्रीड़ा करने कहाँ जाय ?

टिप्पणी—महान् व्यक्तिके लिये आश्रय भी महान् ही होना चाहिये, किसी साधारणसी बातपर यदि महान् (गुणी) व्यक्तिने सार्वभौमका आश्रय छोड़ दिया तो अन्यत्र उसके लिये जीवन ही दूभर हो जायगा, इसी भावको इस अन्योक्ति द्वारा व्यक्त किया गया है। राघवमत्स्य वह विशालकाय मत्स्य है जिसके खेलही खेलमें उल्ट-पुलट करनेसे समुद्रमें ऐसी लहरें उटने लगती हैं कि दिग्गजोंको समुद्रमन्थनका भ्रम होता है। बड़े-बड़े तिमिंगिलादिको समूचा निगलनेवाला वह राघव यदि समुद्रसे रूठ जाय तो भला उसके लिये दूसरा स्थान ही कहाँ हो सकता है ?

मत्स्योंके भेद इस प्रकार हैं—रोहित, मद्गुर, शाल, राजीव, शकुल तिमि और तिमिंगिल। तिमिनामक महामत्स्यको निगलनेवाला तिमिंगिल और 'तिमिंगिलगिलोप्यस्ति तद्गिलोप्यस्ति राघवः' के अनुसार तिमिंगिलको भी निगल जानेवाला एक महामत्स्य होता है तिमिंगिलगिल, और उसको भी निगलनेवाला राघव सबसे बड़ा मत्स्य है। 'खेलति'के स्थानमें "वेल्लति" पाठ भी है जो अपेक्षाकृत अच्छा प्रतीत होता है।

राघव इतना बड़ा मत्स्य है कि उसके साधारण उलटने-पुलटनेपर समुद्रमें ऐसी लहरें उठने लगती हैं जिनसे दिग्गजोंको समुद्रमन्थनकी भ्रान्ति होने लगती है। यह अतिशयोक्ति अलंकार है।

रसगंगाधर में यह पद्य भी अप्रस्तुतप्रशंसाके उदाहरणोंमें पढ़ा गया है किन्तु उसमें पाठभेद है "हरिद्दन्तावलाः"के स्थानपर "हरिद्यूथाधिपाः", "तुङ्गतिमि०"के स्थानपर "तुङ्गतिमिङ्गिलाङ्गगिलनव्यापारकौतूहलः",

"केलिकलह—"के स्थानपर "केलिरभस—" पाठ है। रसगंगाधरके पाठकी अपेक्षा प्रस्तुत पाठ परिमार्जित है। ऐसा प्रतीत होता है कि कविकी पूर्व रचना वही थी जिसे भामिनीविलासमें रखते समय उन्होंने परिष्कृत कर दिया शार्दूलविक्रीडित छन्द है ॥५३॥

लूनं मत्तगजैः कियत्कियदपिच्छिन्नं तुषारार्दितैः
शिष्टं ग्रीष्मजभीष्मभानुकिरणैर्भस्मीकृतं काननम् ।
एषा कोणगता मुहुः परिमलैरामोदयन्ती दिशो
हा कष्टं ललिता लवङ्गलतिका दावाग्निना दह्यते ॥५४॥

अन्वय—काननं, कियत्, मत्तगजैः, लूनं, कियदपि, तुषारार्दितैः, छिन्नं, शिष्टं, ग्रीष्मजभीष्मभानुकिरणैः, भस्मीकृतं, कोणगता, मुहुः, परिमलैः, दिशः, आमोदयन्ती, ललिता, एषा, लवङ्गलतिका, दावाग्निना, दह्यते, हा कष्टम् ।

शब्दार्थ—काननं = वन। कियत् = कुछ तो। मत्तगजैः = उन्मत्त हाथियोंसे। लूनं = काट डाला गया। कियत् = और कुछ। तुषारार्दितैः = शीताक्रान्तजनोंसे (या ओले गिरनेसे)। छिन्नं = नष्ट हो गया। शिष्टं = बचा हुआ। ग्रीष्मज=गर्मीके, भीष्मभानुकिरणैः = प्रचण्डसूर्यकी किरणोंसे। भस्मीकृतं = जला दिया गया। कोणगता = कोनेपर लगी हुई। मुहुः = वार-वार। परिमलैः = सुगन्धोंसे। दिशः = दिशाओंको। आमोदयन्ती = सुरभित करती हुई। ललिता = सुन्दर। एषा = यह। लवङ्गलतिका = लौंगकी लता। दावाग्निना = वनाग्नि द्वारा। दह्यते = जलाई जा रही है। हा कष्टम् = अत्यन्त खेदका विषय है।

टीका—काननं = वनं (गहनं काननं वनम्—अमरः)। कियत् = किंचित्। मत्ताश्च ते गजाश्च मत्तगजाः तैः = उन्मदवारणैः। लूनं = विनाशितम्। अपि च। कियत्। तुषारेण = हिमेन अर्दिताः = पीडितास्ते

तुषारार्दिताः तैः = शीताक्रान्तैरित्यर्थः। छिन्नम् = इन्धनार्थं छेदयित्वा गृहीतमितियावत्। (तुषारस्तुहिनं हिमम्–अमरः) शिष्टम् = अवशिष्ट-मित्यर्थः। ग्रीष्मे = निदाघे जातः ग्रीष्मजः अतएव भीष्मः = भूरिताप-कत्वाद् भयंकरः, स चासौ भानुश्च = सूर्यश्च तस्य किरणैः = मयूखैः। भस्मीकृतं = क्षारीकृतं वर्तते। तथापि एतावदापत्सहनावशिष्टा। एषा = परिदृश्यमाना। कोणगता = उद्यानोपान्तदेशावस्थिता। मुहुः = वारंवारं। परिमलैः = स्वामोदैः, दिशः = आशाः। आमोदयन्ती = सुरभयन्ती। ललिता = मनोरमा। लवङ्गस्य = देवकुसुमस्य लतिका = वल्ली। (लवङ्गं देवकुसुमम्-अमरः) दावाग्निना = वनवह्निना। साम्प्रतं। दह्यते = भस्मीक्रियते। इति हा अत्यन्तं कष्टम् = खेदविषयमेतत्।

भावार्थ—वनका कुछ भाग तो उन्मत्त हाथियोंने रौंद डाला, कुछ जाड़ेसे ठिठुरते लोगोंने काट डाला, जो वचा था वह ग्रीष्ममें प्रचण्डसूर्यके भयानक आतपसे झुलस गया। इसपर भी एक कोनेमें स्थित, यह मनोरम लवङ्गलता जो कि अपनी सुगन्धसे दशों दिशाओंको सुरभित कर रही थी, आज दावाग्निसे जलायी जा रही है। वड़े दुःखकी बात है।

टिप्पणी—यों तो संसारमें गुणवान् ही प्रायः दुर्लभ होते हैं। यदि कहीं किसी कोनेसे कोई अपने गुणोंका प्रकाश करना भी चाहे तो दुष्ट लोग उसे नष्ट करनेपर ही तुले रहते हैं; इसी भावको इस अन्योक्ति द्वारा व्यक्त किया है। मत्तमतंगजों, शीतार्दितों एवं ग्रीष्मके प्रचण्ड आतप-से किसी प्रकार अपनी रक्षा करनेके वाद भी मनोहर लवंग-लतिकाको दावाग्निने अपनी चपेटमें ले ही लिया। दह्यते यह वर्तमानकालका प्रयोग अपनी असामर्थ्य और सामर्थ्यवानोंसे उसे बचानेका आग्रह सूचित करता है। अर्थात् कष्टका विषय है कि इतनी विपत्तियोंसे बचनेपर भी मनोरम लता दवाग्निसे जल रही है, यदि कोई उसे बचा सकता तो वह पुनः अपनी आमोदसे दिशाओंको परिपूरित करती। इस पद्यमें अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार है। शार्दूलविक्रीडित छन्द है ॥५४॥

स्वर्लोकस्य शिखामणिः सुरतरुग्रामस्य धामाद्भुतं
पौलोमीपुरुहूतयोः परिणतिः पुण्यावलीनामसि ।
सत्यं नन्दन किन्त्विदं सहृदयैर्नित्यं विधिः प्रार्थ्यते
त्वत्तः खाण्डवरङ्गताण्डवनटो दूरेऽस्तु वैश्वानरः॥५५॥

अन्वय--नन्दन ! स्वर्लोकस्य, शिखामणिः, सुरतरुग्रामस्य, अद्भुतं, धाम, पौलोमीपुरुहूतयोः, पुण्यावलीनां, परिणतिः, असि, इदं, सत्यं, किन्तु, सहृदयैः, नित्यं, विधिः, प्रार्थ्यते, खाण्डवरङ्गताण्डवनटः, वैश्वानरः, त्वत्तः, दूरे, अस्तु ।

शब्दार्थ—नन्दन = हे इन्द्रके उद्यान ! स्वर्लोकस्य = स्वर्गके । शिखामणिः = चूड़ामणि । असि = हो । सुरतरुग्रामस्य = कल्पवृक्षसमूहके । अद्भुतं धाम = विलक्षण निवास हो । पौलोमीपुरुहूतयोः = इन्द्राणी और इन्द्रकी । पुण्यावलीनां = पुण्यपरम्पराओंके । परिणतिः = परिणामरूप हो । इदं सत्यं = यह सब सत्य है । किन्तु । सहृदयैः = सज्जनोंके द्वारा । नित्यं = सदा । विधिः प्रार्थ्यते = परमात्मासे प्रार्थना की जाती है कि । खाण्डवरङ्गताण्डवनटः = खाण्डव वनरूप रंगमंचपर ताण्डव (नृत्य) करने वाला नट । वैश्वानरः = अग्नि । त्वत्तः = तुमसे । दूरे अस्तु = दूर ही होवे ।

टीका—हे नन्दन ! = इन्द्रोद्यान ! (हय उच्चैःश्रवा सूतो मातलिर्नन्दनं वनम्—अमरः) त्वम् । स्वर्लोकस्य = त्रिविष्टपस्य । शिखामणिः = चूड़ारत्नम् इवालंकारभूतोसीत्यर्थः । सुरतरूणां = देववृक्षाणां (पञ्चैते देवतरवो मन्दारः पारिजातकः । सन्तानः कल्पवृक्षश्च पुंसि वा हरिचन्दनम् —अमरः) ग्रामस्य = समूहस्य । अद्भुतम् = आश्चर्यकारकं, धाम = स्थानमसि । अथ च । पौलोमी = इन्द्राणी (पुलोमजाशचीन्द्राणी—अमरः) च पुरुहूतः = इन्द्रश्च (पुरुहूतः पुरन्दरः—अमरः) तयोः इन्द्राणीतद्रमणयोरित्यर्थः । पुण्यावलीनां = सुकृतपङ्क्तीनां । परिणतिः =

फलमितियावत् । असि । अतीवपुण्यप्रसादेन ताभ्यां त्वमुपलब्ध इत्यर्थः । इदं सर्वं, सत्यं = निर्विवादमेव । किन्तु सहृदयैः = सुधीभिः । नित्यं = प्रत्यहमेव । विधिः = कर्ता दैव इति यावत् । इदं । प्रार्थ्यते = याच्यते । यत् । खाण्डवः = तन्नामकमैन्द्रं वनं तदेव रङ्गो = नृत्यभूविशेषः, तस्मिन् यः ताण्डवः = उद्धतनृत्यं तत्र नट इव = नर्तक इव । एवंभूतः । वैश्वानरः = अग्निः (अग्निर्वैश्वानरो वह्निः—अमरः) दवाग्निरिति भावः । त्वत्तः = त्वत्सकाशात् । दूरे = विप्रकृष्ट एव । अस्तु । त्वं न कदापि दवाग्निसंश्लिष्टः स्याः इत्यर्थः ।

भावार्थ—हे नन्दन ! तुम स्वर्ग लोकके चूड़ामणि हो । कल्पवृक्षादि देवतरुओंके आश्चर्यकारक स्थान हो, इन्द्राणी और इन्द्रके महत्तम पुण्योंके परिणामरूप हो, यह सब कुछ सत्य है । किन्तु सज्जनलोग नित्य यही प्रार्थना करते हैं कि खाण्डवरूप रंगभूमिमें नटकी भाँति ताण्डव नृत्य करनेवाला दवाग्नि तुमसे सदा दूर ही रहे ।

टिप्पणी—कोई कितने ही उच्च पदको प्राप्त हो, विश्वका बड़े से बड़ा उपकारी हो, अत्यन्त प्रयत्नसे उसका संरक्षण किया जाता हो किन्तु वे दुष्ट उसको नष्ट करनेमें किंचित् भी संकोच नहीं करते जिनका स्वभाव ही दूसरोंको नष्ट करना है । परमात्मा जितने अधिक दिनोंतक ऐसे व्यक्तिको इन दुष्टोंसे बचा सके उतना ही अधिक विश्वका कल्याण होगा । अर्थात् सब प्रकारके सुख और ऐश्वर्यका उपभोग करनेवालोंको भी भयके कारण बने ही रहते हैं । इसी भावको इस अन्योक्ति द्वारा व्यक्त किया है । नन्दनवन भले ही चूड़ामणिकी भाँति स्वर्गकी शोभा बढ़ानेमें सर्वश्रेष्ठ हो, अनुपम और अलभ्य कल्पवृक्षोंका आवास हो, शतक्रतुके पुण्योंके परिणामस्वरूप उसे प्राप्त हुआ हो, किन्तु वनाग्नि जहाँ उसमें प्रविष्ट हुई तो उसे भस्म ही कर डालेगी । इसलिये सज्जन लोग नित्य परमात्मासे प्रार्थना करते हैं कि इस दाहक अग्निका प्रवेश वहाँ

कभी न हो; क्योंकि खाण्डव वनमें अग्निकी भीषण करतूतोंको सबने देखा है।

यहाँ नन्दनवनमें स्वर्गके चूड़ामणि, कल्पवृक्षोंके सद्म और इन्द्राणी-इन्द्रके पुण्योंका परिणाम होनेका आरोप किया गया है साथ ही खाण्डव-को नृत्यभू और अग्निपर नटत्वका भी आरोप है अतः यह रूपक अलंकार है। शार्दूलविक्रीडित छन्द है ॥५५॥

स्वस्वव्यापृतिमग्नमानसतया मत्तो निवृत्ते जने
चञ्चूकोटिविपाटितारपुटो यास्याम्यहं पञ्जरात्।
एवं कीरवरे मनोरथमयं पीयूषमास्वादय-
त्यन्तः सम्प्रविवेश वारणकराकारः फणिग्रामणीः ॥५६॥

अन्वयः—जने, स्वस्वव्यापृतिमग्नमानसतया, मत्तः, निवृत्ते, चञ्चूकोटिविपाटितारपुटः, अहं, पञ्जरात्, यास्यामि, एवं, कीरवरे, मनोरथमयं, पीयूषं, आस्वादयति, वारणकराकारः, फणिग्रामणीः, अन्तः, सम्प्रविवेश।

शब्दार्थ—जने = लोगोंके। स्वस्वव्यापृतिमग्नमानसतया = अपने अपने कामोंमें चित्त लगा लेनेसे। मत्तः = मेरे पाससे। निवृत्ते = हट जानेपर। चञ्चूकोटिविपाटितारपुटः = चोंचकी अगली नोकसे (पिंजरेके) द्वारोंको खोलकर। अहं = मैं, पञ्जरात् = पिंजरेसे। यास्यामि = निकल जाऊँगा। एवं = ऐसा। कीरवरे = तोतेके। मनोरथमयं = अभिलाषारूप। पीयूषं = अमृतको। आस्वादयति = चखते हुए। वारणकराकारः = हाथीकी सूंड जैसा। फणिग्रामणीः = बड़ा भारी सर्प। अन्तः = भीतर। सम्प्रविवेश = घुस आया।

टीका—जने = लोके। स्वा च स्वा च या व्यापृतिः = व्यापारः तत्र मग्नं = संलग्नं मानसं यस्मिन् तत् स्वस्वव्यापृतिमग्नमानसं तस्य भावः

तत्ता तदा = निजव्यापारासक्तचित्ततया मत्तः = मत्सकाशात् । जने = लोके निवृत्ते = दूरीभूते । सति । चञ्चूकोटिना = चञ्च्वग्रभागेन विपाटितं = विदारितम् अररपुटं = कपाटयुगलम् येन स एवंभूतः (कपाटमररं तुल्ये—अमरः) अहं = कीरः । पञ्जरात् = वन्धनगृहात् । यास्यामि = उड्डीय नभःपथं गमिष्यामि इत्यर्थः । एवं । कीरवरे = शुकश्रेष्ठे । मनोरथमयं = लिप्सात्मकं । पीयूषम् = अमृतम् । आस्वादयति = पिवति सति । मनस्येवं विचारयति सति इत्यर्थः । वारणस्य = गजस्य यः करः = शुण्डादण्डः तस्य आकार इव आकारः यस्य = गजशुण्डाकृतिरित्यर्थः । फणिनां = सर्पाणां ग्रामणीः = श्रेष्ठः (ग्रामणीर्नापिते पुंसि श्रेष्ठे ग्रामाधिपे त्रिषु-अमरः) महान् सर्प इति यावत् । अन्तः = पञ्जराभ्यन्तरे सम्प्रविवेश = प्रविष्टः ।

भावार्थ—"अपने अपने कार्यव्यापारमें आसक्तचित्त होनेसे जव सवलोग मेरे पाससे चले जायेंगे तो अपनी चोंचकी नोकसे पिंजरेका द्वार खोलकर मैं भाग चलूँगा, ऐसे मनोरथमय अमृतका आस्वादन ज्योंही शुक कर रहा था कि हाथीकी सूंडके समान विशालकाय सर्प पिंजरेमें घुस आया ।

टिप्पणी—"दुःखसे निवृत्ति और सुखकी प्राप्ति" यह जीवमात्रकी कामना होती है, किन्तु एक दुःख से निवृत्त होनेकी कल्पना करते ही यदि दूसरा उससे भी भयानक दुःख आ पड़े तव तो भगवान् ही रक्षक है । इसी भावको इस पद्य द्वारा व्यक्त किया है । इससे यह भी स्पष्ट होता है कि मनुष्य कितना ही कुछ सोचे; किन्तु होगा वही जो दैवको स्वीकार होगा । वेचारा तोता जो स्वच्छन्द हो आकाशमण्डलमें विचरण करता था भाग्यसे पिंजरेमें वंध गया । वहाँ भी एकान्तकी वाट जोह रहा था कि सव अपने-अपने काममें लग जायेंगे और मेरी ओरसे ध्यान हटा लेंगे तो मैं चोंचकी नोकसे द्वारकी सींक निकालकर

भाग चलूँगा (इससे उसकी अपराधी प्रवृत्ति और बन्धनयोग्यत्व ध्वनित होते हैं) ; किन्तु इसी समय पिंजरेके एक छिद्रसे भयानक सर्पने घुसकर उसके सामने नया प्राणसंकट उपस्थित कर दिया जिससे वह कल्पनाजन्य सुखको ही क्या, बन्धनजन्य दुःखको भी भूल गया।

तुलना०—रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातं
भास्वानुदेष्यति हसिष्यति पंकजालिः।
इत्थं विचिन्तयति कोशगते द्विरेफे
हा हन्त हन्त नलिनीं गज उज्जहार ॥

इस पद्यको पंडितराजने रसगंगाधरमें विषादन अलंकारके उदाहरणमें रक्खा है और इसका लक्षण किया है—"अभीष्टार्थविरुद्धलाभो विषादनम्" अर्थात् जहाँ अभीष्ट प्राप्ति के लिये प्रयत्न न करके केवल इच्छा ही की जाय और फल उल्टा हो जाय वहाँ विषादन अलंकार होता है। शार्दूलविक्रीडित छन्द है ॥५६॥

रे चाञ्चल्यजुषो मृगाः श्रितनगाः कल्लोलमालाकुला-
मेतामम्बुधिकामिनीं व्यवसिताः संगाहितुं वा कथम्।
अत्रैवोच्छलदम्बुनिर्भरमहावर्तैः समावर्तितो
यद्ग्रावेव रसातलं पुनरसौ नीतो गजग्रामणीः ॥५७॥

अन्वय—श्रितनगाः, चाञ्चल्यजुषः, रे मृगाः, कल्लोलमालाकुलाम्, एताम्, अम्बुधिकामिनीं, संगाहितुं, कथं, वा, व्यवसिताः, यत्, अत्रैव, उच्छलदम्बुनिर्भरमहावर्तैः, समावर्तितः, असौ, गजग्रामणीः, पुनः, ग्रावा इव, रसातलं, नीतः।

शब्दार्थ—श्रितनगाः = पहाड़पर रहनेवाले। चाञ्चल्यजुषः = चञ्चलस्वभाववाले। रे मृगाः = अरे मृगो ! कल्लोलमालाकुलाम् = लहरोंकी पंक्तियोंसे व्याप्त। एतां = इस। अम्बुधिकामिनीं = समुद्रपत्नी (नदी)

की। संगाहितुं = थाह लेनेके लिए। कथं वा = किस प्रकार। व्यवसिताः = प्रवृत्त हुए हो। यत् = क्योंकि। अत्रैव = यहींपर। उच्छलदम्बु = उछलते हुए जलमें, निर्भर = प्रचुर, महावर्तैः = वड़े वड़े भँवरोंसे। समावर्तितः = चारों ओर घुमाया गया। असौ = यह। गजग्रामणीः = गजश्रेष्ठ। पुनः = फिर। ग्रावा इव = पत्थरकी तरह। रसातलं = पातालको। नीतः = पहुँचा दिया गया।

टीका — श्रितः = वासत्वेन स्वीकृतः नगः = पर्वतः यैस्ते श्रितनगाः तत्सम्बुद्धौ, अचलस्था इत्यर्थः। चञ्चलस्य भावः चाञ्चल्यं तज्जुषन्तीति चाञ्चल्यजुषः = चपलस्वभावाः। रे मृगाः। कल्लोलानां = महदूर्मीणां (स्त्रियां वीचिरथोर्मिषु। महत्सूल्लोलकल्लोलौ—अमरः) माला = पङ्क्तयः ताभिः आकुला = व्याप्ता, ताम्। अम्बुधेः कामिनी अम्बुधिकामिनी तां = समुद्रगामित्यर्थः। एतां = गङ्गारूपां संगाहितुं = विलोडयितुं कथं वा व्यवसिताः = प्रवृत्ताःस्थ। यत् = यतः। अत्रैव = भवत्प्रवृत्तिस्थल एव, उच्छलत् = ऊर्ध्वंगच्छत् तच्च तदम्बु = जलं तस्य यो निर्भरः = आधिक्यं तेन ये महान्तः आवर्ताः = जलभ्रमाः (स्यादावर्तोम्भसां भ्रमः — अमरः) तैः समावर्तितः = समन्ताद्भ्रामितः, असौ = त्वत्पूर्ववर्ती इति भावः। गजग्रामणीः = करिश्रेष्ठः। पुनः, ग्रावेव = पाषाणवत्। रसातलम् = अधस्तलं नीतः = प्रापितः।

भावार्थ—पहाड़ोंपर रहनेवाले रे चञ्चल मृगो! बड़ी बड़ी तरङ्गोंसे आकुल इस समुद्रगा नदीकी थाह लेने क्यों चले हो। इसके उछलते हुए जलमें वारवार वने वड़े-वड़े भँवरों (आवर्तों) में चारों ओर घुमाया गया वह विशाल हाथी यहींपर पाषाणखण्डकी तरह डुबा दिया गया।

टिप्पणी—जहाँ वड़े-वड़े सामर्थ्यशाली भी गोता खा जाते हैं वहाँ अल्पसामर्थ्यवालोंका प्रयत्न करना उनकी मूर्खताका ही द्योतक है। इसी भावको इस अन्योक्ति द्वारा व्यक्त किया है। पर्वतकन्दराओंमें रहनेवाले

मृगों द्वारा उछलती लहरोंवाली समुद्रगामिनी नदीकी थाह लेनेका प्रयत्न करना दुःसाहस ही तो है। समुद्रकामिनी यह विशेषण नदीकी अगाधताका द्योतक है। "अत्रैव" पदसे उस स्थलविशेषका निर्देश होता है जहाँ वे प्रवृत्त हैं। "गजग्रामणी" पद गजकी विशालता और सामर्थ्यशालिताका सूचक है, अर्थात् जिस प्रयत्नमें ऐसा समर्थ गजराज पत्थरकी भाँति रसातलको चला गया। निष्फलप्रयत्न ही नहीं हुआ, प्रत्युत सदाके लिये नष्ट भी हो गया, तब तुम किस गिनती में आओगे ?

इस श्लोकसे यह भी ध्वनि निकलती है कि अरे मृगो श्रितनगा अर्थात् ऊँचे पर्वतोंपर वास करनेवाले (उच्चपदस्थ) होकर भी तुम अगाध नदीकी थाह लेने जा रहे हो अर्थात् नीचेकी ओर प्रवृत्त हो रहे हो, यह तुम्हारी मूर्खता ही है।

इस पद्यमें अप्रस्तुत मृगों से प्रस्तुत अविवेकी जनोंका तथा गजग्रामणीसे किसी समर्थ व्यक्तिका बोध होता है अतः अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार है। ग्रावा इव यह उपमा भी है। चाञ्चल्यजुषः और ग्रामणी विशेषण साभिप्राय हैं अतः परिकर भी। इस प्रकार इन अलंकारों का सङ्कर हो गया है। शार्दूलविक्रीडित छन्द है ॥५७॥

पिब स्तन्यं पोत त्वमिह मददन्तावलधिया
दृगन्तानाधत्से किमिति हरिदन्तेषु परुषान्।
त्रयाणां लोकानामपि हृदयतापं परिहरन्
अयं धीरं-धीरं ध्वनति नवनीलो जलधरः ॥५८॥

अन्वय—पोत, त्वम्, इह, स्तन्यं, पिब, मददन्तावलधिया, हरिदन्तेषु, परुषान्, दृगन्तान्, किमिति, आधत्से, अयं, नवनीलः, जलधरः, त्रयाणाम्, अपि, लोकानां, हृदयतापं, परिहरन्, धीरं-धीरं, ध्वनति।

शब्दार्थ—पोत = हे बच्चे ! त्वम् = तुम । इह = यहीं । स्तन्यं पिब = स्तनोंसे दूध पियो । मददन्तावलधिया = उन्मत्त हाथी समझकर। हरिदन्तेषु = दिशाओंके छोरोंमें । परुषान् = कठोर । दृगन्तान् = आँखों-के कोनोंको । किमिति आधत्से = क्यों कर रहे हो । अयं = यह । नव-नीलः = साँवला । जलधरः = मेघ । त्रयाणाम् अपि = तीनों ही। लोकानां = लोकोंके । हृदयतापं = हृदयके सन्तापको । परिहरन् = मिटाता हुआ । धीरं-धीरं = गम्भीर । ध्वनति = गरज रहा है ।

टीका—हे पोत = शिशो ! (यानपात्रे शिशौ पोतः—अमरः), त्वम् , इह = मदीयपयोधरमण्डले । स्तन्यं = पयः । पिब । मदः = यौवनादिविकारः तत्प्रधानाश्च ते दन्तावलाश्च = हस्तिनश्च (दन्ती-दन्तावलो हस्ती-अमरः) गन्धद्विपादिवत्समासः । तद्धिया = उन्मददन्ति-भ्रान्त्या इत्यर्थः । हरितां = दिशाम् अन्तेषु = अवसानेषु (दिशस्तु ककुभः काष्ठाः आशाश्च हरितश्च ताः—अमरः) । परुषान् = रोषकषायि-तान् । दृगन्तान् = नेत्रकोणान् । किमिति = किमर्थं । आधत्से = करोषीत्यर्थः । यतः । अयं=यस्त्वया गजत्वेनानुमितः सः । तु । नवश्चासौ नीलश्च नवनीलः = सुन्दरनीलवर्णः । जलधरः = मेघः । त्रयाणाम् , अपि । लोकानां = भुवनानां । हृदयतापम् = अन्तरूष्माणं, परिहरन् = निवार-यन् । धीरं-धीरं = शनैः शनैः इत्यर्थः । ध्वनति = शब्दं करोति ।

भावार्थ—हे सिंहशिशो ! तुम (मेरे स्तनका) दूध पियो । उन्मत्त हाथी समझकर दिशाओंके छोरोंकी ओर लाल आँखोंसे क्यों देखते हो ? यह तो त्रिभुवनके हृदय-संतापको हरनेवाला सुन्दर श्यामल मेघ धीरे-धीरे गरज रहा है ।

टिप्पणी—तेज और प्रताप किसीके सीखने या सिखानेकी वस्तु नहीं । ये जिसमें होते हैं तो स्वभावसे ही होते हैं । सिंहका बच्चा दुधमुँहा ही क्यों न हो, है तो सिंहशिशु ही । गजोंको वह अपना स्वाभाविक

बैरी समझता है इसलिये ध्वनिसाम्यके कारण वादलकी गर्जनाको हाथीकी चिग्घाड़ समझकर उसकी आँखें लाल हो जाती हैं और वह कठोर दृष्टिसे चारों ओर घूरने लगता है, शत्रुको खोजने। तब दूध पिलाती हुई सिंहिनी उसे वास्तविकताका वोध कराती है कि जिसे तुम अपना शत्रु समझकर लाल-लाल आँखें करके दिगन्तोंको घूर रहे हो वह तो त्रिभुवनका तापनिवारक जलद है, हाथी नहीं। अतः शान्त होकर दूध पियो। इससे यह भी ध्वनि निकलती है कि दूसरोंके सन्तापको हरण करनेवाले सज्जनों-पर भूलकर भी क्रोध करना तुम्हारा निरा लड़कपन या अविवेक ही है।

इस पद्यमें भ्रान्तिमान् अलंकार और शिखरिणी छन्द है ॥५८॥

धीरध्वनिभिरलं ते नीरद मे मासिको गर्भः।
उन्मदवारणबुद्ध्या मध्येजठरं समुच्छलति ॥ ५९ ॥

अन्वय—नीरद ! ते धीरध्वनिभिः, अलं, मे, मासिकः, गर्भः, उन्मदवारणबुद्ध्या, मध्येजठरं, समुच्छलति।

शब्दार्थ—नीरद = हे मेघ ! ते = तुम्हारी। धीरध्वनिभिः = गम्भीर गर्जनाओंसे। अलं = बस करो। मे = मेरा। मासिकः गर्भः = एक महीने-का गर्भ। उन्मदवारणबुद्ध्या = उन्मत्त हाथी समझकर। मध्येजठरं = पेटके भीतर ही। समुच्छलति = उछल रहा है।

टीका—नीरं जलं ददातीति तत्सम्बुद्धौ हे नीरद = हे मेघ ! ते = तव। धीराश्च ते ध्वनयश्च तैः धीरध्वनिभिः = गम्भीरगर्जनैः। अलं = पर्याप्तम्। यतः। मे = मम सिंहिन्या इत्यर्थः। मासिकः = मासमात्रा-वस्थः। गर्भः = डिम्भः। उन्मदः = उन्मत्तश्चासौ वारणश्च तद्-बुद्ध्या = उन्मत्तगजभ्रान्त्या। मध्येजठरं = जठरस्थित एव, समुच्छलति = उत्प्लवनं करोति।

भावार्थ—हे जलद ! गम्भीर गर्जना बन्द करदो, क्योंकि यह मेरा

एक ही महीनेका गर्भ तुम्हारे गर्जनको उन्मत्त हाथीका शब्द समझकर पेटमें ही उछल-उछल रहा है।

टिप्पणी—यह भी पूर्व श्लोककी भाँति ही है। वैशिष्ट्य केवल इतना ही है कि उसमें सिंहशिशु सचेतन और स्तनंधय था, इसमें अचेतन गर्भावस्थामें ही है, वह भी केवल १ महीनेका। तात्पर्य यही है कि प्रतापी पुरुष असमर्थावस्थामें (गर्भके वन्धनमें) भी शत्रुका उत्कर्ष सहन नहीं कर सकते।

यह सम्वन्धातिशयोक्ति अलंकार है—"सम्वन्धातिशयोक्तिः स्यादयोगे योगकल्पनम्" (कुवलया०)। आर्या छन्द है ॥५९॥

वेतण्डगण्डकण्डूतिपाण्डित्यपरिपन्थिना।
हरिणा हरिणालीषु कथ्यतां कः पराक्रमः॥ ६०॥

अन्वय—वेतण्ड···पन्थिना, हरिणा, हरिणालीषु, कः, पराक्रमः, कथ्यताम्।

शब्दार्थ—वेतण्ड = हाथियोंके, गण्ड = कपोलोंकी, कण्डूति = खुजलाहटका जो, पाण्डित्य = कौशल, (उसके) परिपन्थिना = शत्रु। हरिणा = सिंहके द्वारा। हरिणालीषु = हरिणपंक्तियोंमें। कः पराक्रमः कथ्यताम् = क्या विक्रम कहा जाय।

टीका—वेतण्डाः = गजाः तेषां ये गण्डाः = कपोलाः तेषां यत्कण्डूतिपाण्डित्यं = खर्जनकौशलं तस्य यः परिपन्थी = प्रतिस्पर्द्धी तेन एवंभूतेन। हरिणा = सिंहेन। हरिणालीषु = मृगपङ्क्तिषु। कः = किंप्रकारकः, पराक्रमः = प्रतापः, कथ्यताम् = प्रकटीक्रियताम्।

भावार्थ—बड़े बड़े गजेन्द्रोंके कपोल-खर्जनके कौशलको न सहन कर सकनेवाला मृगराज साधारण हरिण-पंक्तियों पर क्या पराक्रम दिखावे।

टिप्पणी—देखिये श्लोक ४८ ॥६०॥

नीरान्निर्मलतो जनिर्मधुरता रामामुखस्पर्द्धिनी
वासः किं च हरेः करे परिमलो गीर्वाणचेतोहरः।
सर्वस्वं तदहो महाकविगिरां कामस्य चाम्भोरुह
त्वं चेत्प्रीतिमुरीकरोषि मधुपे तत् त्वां किमाचक्ष्महे ॥६१॥

अन्वय—हे अम्भोरुह ! निर्मलतः, नीरात्, जनिः, रामामुखस्पर्द्धिनी, मधुरता, किं च, हरेः, करे, वासः, गीर्वाणचेतोहरः, परिमलः, अहो, महाकविगिरां, कामस्य, च, सर्वस्वं, त्वं, मधुपे, प्रीतिमुरीकरोषि, चेत्, तत्, त्वां, किम् आचक्ष्महे ।

शब्दार्थ—हे अम्भोरुह = कमल । निर्मलतः नीरात् = स्वच्छ जलसे । (तुम्हारी) जनिः = उत्पत्ति है । रामामुखस्पर्द्धिनी = सुन्दरीके मुखसे स्पर्धा करनेवाली । मधुरता = कोमलता (है) । किंच = और । हरेः करे वासः = भगवान् (विष्णु) के हाथमें रहते हो । गीर्वाणचेतोहरः = देवताओंके चित्तको हरनेवाली । परिमलः = सुगन्ध है । अहो = आश्चर्य है । तत् = वह (सब जो ऊपर गिनाया गया है) । महाकविगिरां = महाकवियोंकी वाणियोंका । कामस्य च = और कामदेवका भी । सर्वस्वं = सारभूत है । त्वं = (ऐसे) तुम । मधुपे = भौंरेमें । प्रीतिं = प्रेमको । उरीकरोषि चेत् = स्वीकार करते हो तो । त्वां प्रति = तुमसे । किम् आचक्ष्महे = क्या कहें ।

टीका—अम्भसि = जले रोहति = उद्भवतीति तत्सम्बुद्धौ अम्भोरुह ! = हे कमलेत्यर्थः । निर्मलतः = स्वच्छात् । नीरात् = जलात् जनिः = उत्पत्तिः । रामायाः = सुन्दर्या यत् मुखं = वदनं तत् स्पर्धयति = स्वाधिक्येन तद्विरोधं करोतीत्यर्थः । इति सा एवंभूता । मधुरता = कोमलता सौन्दर्यं वा । किंच हरेः = विष्णोः करे = पाणौ वासः = अवस्थानम् । गीर्वाणाः = देवाः तेषां चेतो = हृदयं (चित्तं तु चेतो हृदयम्—

अमरः) हरतीति एवंभूतः = सुरगणमनोमोहक इत्यर्थः। परिमलः = सुगन्धः (विमर्दोत्थे परिमलो गन्धे जनमनोहरे—अमरः) अहो = इति आश्चर्ये। महाकवीनां गिरः,तासां = कवीन्द्रवचसां (सर्वत्रोपमायोग्यत्वात्) च तथा, कामस्य = मदनस्य (अरविन्दमशोकं चेति पंचवाणेषु प्रथमवाणत्वात्)। सर्वस्वम्। असि। एवंभूतोपि। मधुपे = चञ्चरीके। प्रीतिं = प्रेम। उरीकरोषि = स्वीकरोषि चेत् तत् = तर्हि त्वां प्रति किम् आचक्ष्महे = कथयामः। वयमितिशेषः।

भावार्थ—हे जलज ! निर्मल जलमें तुम्हारी उत्पत्ति हुई है। सुन्दरी स्त्रियोंके मुखोंसे स्पर्धा करनेवाली मधुरता तुममें है। भगवान्‌के हाथमें तुम्हारा वास है। अपनी सुगन्धसे देवताओंको भी मोहित किये रहते हो। महाकवियोंकी वाणी एवं कामदेवके तुम सर्वस्व हो। इतनेपर भी यदि भौंरेसे स्नेह करते हो, तो तुमसे क्या कहें ?

टिप्पणी—सर्वगुणसम्पन्न व्यक्तिका किसी क्षुद्रसे प्रीति करना उचित नहीं, इसी भावको इस अन्योक्ति द्वारा व्यक्त किया है। स्वच्छ जलमें उत्पत्तिसे वंशकी निर्दोषता, रामामुखस्पर्धासे अनुपमसौन्दर्यशालिता, विष्णुके हाथमें स्थिति से आवासकी पवित्रता, देवजनमोहक परिमलसे अन्तःशुद्धि, महाकविवाणीका सर्वस्व होनेसे प्रभावशालिता और कामका सर्वस्व होनेसे सामर्थ्य द्योतित होती है। जिससे कमलकी सुजनता निर्बाध है। इसपर भी मधुपसे प्रीति होना नितान्त ही अनुचित है। मधुपशब्द भी यहाँ अपना विशेष अर्थ रखता है। मधुही कमलका सर्वस्व है और उसे ही यह पी जाता है। दूसरे शब्दोंमें, इसे खून चूस जानेवाला शोषक कह सकते हैं।

"ऐसे सर्वस्वहारी शत्रुसे भी स्नेह करते हो अतः महान् हो" ऐसी व्याजस्तुतिकी कल्पना यहाँ हो सकती है; किन्तु जोरदेकर कहा जाने योग्य किम् शब्द, उसकी अपेक्षा उक्त गुणोंकी निष्फलताकी ओर ही अधिक

झुकाता है अतः प्रतीप अलंकार है। शार्दूलविक्रीडित छन्द है ॥६१॥

लीलामुकुलितनयनं किं सुखशयनं समातनुषे।
परिणामविषमहरिणा करिनायक वर्द्धते वैरम् ॥६२॥

अन्वय—करिनायक ! लीलामुकुलितनयनं, सुखशयनं, किं, समातनुषे, परिणामविषमहरिणा, वैरं, वर्द्धते।

शब्दार्थ—करिनायक = हे गजराज ! लीलामुकुलितनयनं = आरामसे मुंदी हैं आखें जिसमें ऐसे। सुखशयनं = सुखकी नींद। किं समातनुषे = क्या ले रहे हो। परिणामविषमहरिणा = अन्तमें कठोर जो सिंह उससे। वरम् = वैर। वर्द्धते = वढ़ रहा है।

टीका—करिनायक = गजश्रेष्ठ ! लीलया मुकुलिते = संकुचिते नयने = लोचने यस्मिन् तत्। एवंभूतं सुखशयनं = सुखपूर्वकं शयनं आनन्दनिद्रामितियावत्। किं = किमर्थं। समातनुषे = वर्द्धयसि। यतः परिणामे = फले विषमः = दुर्जयः यो हरिः = सिंहः तेन। इति सहार्थे तृतीया। वैरं = द्वेषः वर्द्धते = वृद्धिं याति।

भावार्थ—हे गजेन्द्र ! आँखें मूँदकर सुखकी नींद क्या ले रहे हो (क्या तुम्हें ज्ञात नहीं कि) तुम्हें नष्ट कर देनेवाले सिंहसे वैर वढ़ रहा है।

टिप्पणी—वलवान् शत्रुकी कभी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। सर्वदा उससे सतर्क रहना ही कल्याणकर है, इसी भावको इस अन्योक्तिद्वारा व्यक्त किया गया है। युद्ध होने पर सिंह हाथीको निश्चय ही मार डालेगा, इसलिये उसे परिणामविषम कहा है।

अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार है। उपगीति छन्द है। इसमें आर्या छन्दके उत्तरार्द्धके समान अर्थात् १२।२५ मात्राओंका प्रत्येक पाद होता है ॥६२॥

विदुषां वदनाद्वाचः सहसा यान्ति नो बहिः।
याताश्चेन्नपराञ्चन्ति द्विरदानां रदा इव ॥६३॥

अन्वय—वाचः, विदुषां, वदनात्, सहसा, बहिः, नो, यान्ति, याताः, चेत्, द्विरदानां, रदाः, इव, न पराञ्चन्ति।

शब्दार्थ—विदुषां वदनात् = विद्वानोंके मुखसे। वाचः = शब्द। सहसा = एकाएक। बहिः = बाहर। नो यान्ति = नहीं निकलते। याताश्चेत् = यदि निकल गये तो। द्विरदानां = हाथियोंके। रदा इव = दाँतोंकी तरह। न पराञ्चन्ति = पीछे नहीं लौटते।

टीका—वाचः = वाक्यानि। विदुषां = विपश्चितां (विद्वान् विपश्चिद्दोषज्ञः—अमरः) वदनात् = मुखात्। सहसा = झटिति। बहिः। न यान्ति = न निर्गच्छन्तीत्यर्थः। कथंचित् याताः = बहिर्निर्गताश्चेत्। द्विरदानां = गजानां। रदाः = दन्ताः। इव। न। पराञ्चन्ति = प्रत्यावर्तन्ते।

भावार्थ—विद्वान् लोग किसी विषय पर सहसा बोलते ही नहीं, यदि बोलते हैं तो फिर उससे इस तरह पीछे नहीं हटते जैसे हाथीके दाँत।

टिप्पणी—अन्योक्ति न होने पर भी इस रचनाको यहाँ संग्रहीत किया गया है तुलना०—सकृज्जल्पन्ति राजानः सकृज्जल्पन्ति पण्डिताः।
सकृत्कन्याः प्रदीयन्ते त्रीण्येतानि सकृत् सकृत् ॥ (नीतिसार)

यह पूर्णोपमा अलंकार और अनुष्टुप्छन्द है ॥६३॥

औदार्यं भुवनत्रयेऽपि विदितं सम्भूतिरम्भोनिधेः
वासो नन्दनकानने परिमलो गीर्वाणचेतोहरः।
एवं दातृगुरोर्गुणाः सुरतरो सर्वेऽपि लोकोत्तराः
स्यादर्थिप्रवरार्थितार्पणविधावेको विवेको यदि ॥६४॥

अन्वय—सुरतरो ! औदार्यं, भुवनत्रये, अपि, विदितं, सम्भूतिः, अम्भोनिधेः, वासः, नन्दनकानने, परिमलः, गीर्वाणचेतोहरः, एवं, दातृगुरोः, सर्वे, अपि, गुणाः, लोकोत्तराः, यदि, अर्थिप्रवरार्थितार्पणविधौ, एकः, विवेकः, स्यात्।

शब्दार्थ—सुरतरो = हे कल्पवृक्ष ! औदार्यं = (तुम्हारी) उदारता। भुवनत्रयेऽपि = तीनों ही लोकोंमें। विदितं = प्रसिद्ध है। सम्भूतिः = उत्पत्ति। अम्भोधेः = समुद्रसे हुई है। वासः = स्थिति। नन्दनकानने = इन्द्रके बगीचेमें है। परिमलः = सुगन्ध। गीर्वाणचेतोहरः = देवताओंके भी मनको हरनेवाली है। एवं = इसप्रकार। दातृगुरोः = दाताओंमें श्रेष्ठ (तुम्हारे)। सर्वेऽपि गुणाः = सभी गुण। लोकोत्तराः = अलौकिक (विलक्षण) हैं। यदि। अर्थिप्रवर = उत्तम याचकको, अर्थितार्पणविधौ = याचित वस्तु देते समय। एकः विवेकः स्यात् = सामान्य विवेक भी तुममें होता।

टीका—हे सुरतरो = कल्पवृक्ष ! तव। औदार्यम् = उदारभावः। भुवनत्रये = लोकत्रितये अपि। विदितं = प्रसिद्धं। सम्भूतिः = उत्पत्तिः। अम्भोनिधेः = सागरात्। वासः = स्थितिः। नन्दनं चासौ काननं च तस्मिन् = देवोद्याने इत्यर्थः। परिमलः = आमोदः। गीर्वाणानां = देवानां चेतो हरतीति, एवंविधः अस्तीतिशेषः। एवम् = अनेन प्रकारेण, दातॄणां गुरुः तस्य दातृगुरोः = वदान्यप्रवरस्य। सर्वे = निखिलाः अपि, गुणाः लोकोत्तराः = अनुपमाः स्युः। यदि। अर्थिप्रवराणां = याचकश्रेष्ठानां या अर्थिता = याचकत्वं तस्या अर्पणविधौ = दानप्रकारे। विवेकः = विचारशीलता, अपि स्यात्। येन यद्याच्यते स तत्पात्रमस्ति न वेति विचारवत्ता यदि स्यात्तवेति भावः।

भावार्थ—हे कल्पवृक्ष ! तुम्हारी उदारता त्रिभुवनमें प्रसिद्ध है, उत्पत्ति महान् जलनिधिसे हुई है, वास नन्दनवनमें है, तुम्हारी सुगन्ध,

देवताओं का भी चित्त हरण कर लेती है। इस प्रकार किसी श्रेष्ठ दातामें रहनेवाले सभी गुण तुममें होते, यदि याचककी याचनापूर्तिके समय तुम उसकी पात्रताका विवेक भी करते।

टिप्पणी—इसी भावको 'नीरान्निर्मलतः' पद्यमें व्यक्त कर चुके हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि वहाँ अन्योक्ति कमलको सम्बोधित करके कही गयी थी यहाँ कल्पवृक्षको। उसमें मधुपसे प्रेम करना न्यूनता थी इसमें पात्रापात्रका अविवेक। इस प्रकार वक्ता एक होनेपर भी मुक्तक काव्यमें पद्योंके परस्पर निरपेक्ष होनेसे और नीतिविषयक उपदेश-का बोधक होनेसे इसमें पुनरुक्ति दोषकी कोई सम्भावना नहीं, प्रत्युत इससे रसका पोषण ही होता है। किन्हीं पुस्तकोंमें 'सुरतरोः' ऐसा षष्ठ्यन्त पाठ भी है।

इस पद्यमें प्रयुक्त चारों विशेषणोंसे सुरतरुकी कीर्ति, समुत्पत्ति, आवास और गुणसम्पत्तिकी लोकोत्तरता सूचित होती है। कल्पवृक्ष समुद्रमन्थनके समय निकले हुए चौदह रत्नोंमें एक है, जिसे इन्द्रने लाकर अपने नन्दनवनमें रक्खा था। इसकी यह विशेषता है कि इससे जो कुछ माँगा जाय वह उपलब्ध हो जाता है, ऐसी पौराणिक प्रसिद्धि है।

यह सम्भावना अलंकार है। लक्षण—"संभावना यदीत्थं स्यादित्यूहोऽन्यस्य सिद्धये" (चन्द्रालोक)। शार्दूलविक्रीडित छन्द है ॥६४॥

एको विश्वसतां हराम्यपघृणः प्राणानहं प्राणिना-
मित्येवं परिचिन्त्य मात्ममनसि व्याधानुतापं कृथाः।
भूपानां भवनेषु किं च विमलक्षेत्रेषु गूढाशयाः
साधूनामरयो वसन्ति कति नो त्वत्तुल्यकक्षाः खलाः ॥६५॥

अन्वय—व्याध! अपघृणः, अहम्, एकः, विश्वसतां, प्राणिनां, प्राणान्, हरामि, इति, एवं, परिचिन्त्य, आत्ममनसि, अनुतापं, मा

कृथाः, भूपानां, भवनेषु, किंच, विमलक्षेत्रेषु, गूढाशयाः, साधूनाम्, अरयः, त्वत्तुल्यकक्षाः, नराः, कति, खलाः, नो वसन्ति।

शब्दार्थ—व्याध = हे शिकारी। अपघृणः = निर्दयी। एकः अहं = अकेला मैं ही। विश्वसतां = विश्वास करते हुए। प्राणिनां = जीवोंके। प्राणान् = प्राणोंको। हरामि = ले लेता हूँ। इत्येवं = इस प्रकार। आत्म-मनसि = अपने मनमें। अनुतापं = पश्चात्ताप। मा कृथाः = मत करना। भूपानां भवनेषु = राजाओंके महलोंमें। किंच = और। विमलक्षेत्रेषु = पुण्यस्थानोंमें। गूढाशयाः = गुप्त हैं योजनाएँ जिनकी ऐसे। साधूनाम् अरयः = सज्जनोंके वैरी। त्वत्तुल्यकक्षाः = तुम्हारी ही तरहके। खलाः = दुर्जन। कति नो वसन्ति = कितनेही नहीं रहते क्या ?

टीका—रे व्याध = आखेटक ! अपगता = दूरीभूता घृणा = करुणा यस्मात्स अपघृणः = निर्दय इत्यर्थः (कारुण्यं करुणा घृणा—अमरः) अहम् = एक एव। विश्वसतां = विश्वासं कुर्वतां। हरिततृणादिदानेनोत्पादित-विश्वासानां। प्राणिनां = जीवानां। मृगादीनामित्यर्थः। प्राणान् = असून्। हरामि = नाशयामि। इति एवं परिचिन्त्य = विचार्य। आत्ममनसि = स्वचेतसि। अनुतापं = संतापं। मा कृथाः = नैव कुरु। यतः भूपानां = नृपाणां, भवनेषु = सौधेषु। किंच। विमलानि च तानि क्षेत्राणि तेषु = पुण्यतीर्थादिषु इत्यर्थः। गूढः = गुप्तप्रायः आशयः = अभिप्रायः, हिंसादिकल्पना इतियावत्, येषां ते गूढाशयाः (अभिप्राय-श्छन्द आशयः—अमरः) साधूनां = सज्जनानाम् अरयः = शत्रवः। तव तुल्या = समाना कक्षा = श्रेणी येषां ते त्वत्तुल्यकक्षाः = गुप्तहिंसका इत्यर्थः। कति = कियन्तः। खलाः = दुर्जनाः। नो = न। वसन्ति = अवतिष्ठन्ति, अपि तु बहूनि सन्ति इत्यर्थः।

भावार्थ—रे व्याध ! प्राणियोंमें विश्वास उत्पन्न कराकर उनकी हिंसा करनेवाला निर्दयी अकेला मैं ही हूँ, ऐसा पश्चात्ताप तुम मत

करो। राजभवनों या पुण्यस्थलोंमें गुप्तरूपसे सज्जनोंके प्रति हिंसाकी भावना रखनेवाले तुम्हारे समान कितने ही दुर्जन व्यक्ति नहीं रहते हैं क्या?

टिप्पणी—व्याध जब शिकार करता है तो पहिले उन प्राणियोंको किसी प्रकार अपने जालमें फाँस लेता है। पक्षी आदि चारेके लोभसे उसके जालमें फँस जाते हैं। हरिण आदि उसकी वीनके स्वरमें मुग्ध हो जाते हैं। इस प्रकार विश्वस्त हुए प्राणियोंका वह वध कर डालता है। इसी प्रकार राजदरबारोंमें या तीर्थस्थानोंमें भी ऐसे ही दुष्ट रहते हैं जो न्यायार्थीको या तीर्थयात्रीको विश्वास दिलाकर लूट लेते हैं। इसीलिये कवि व्याधको लक्ष्य करके कहता है कि तुम अकेले ही विश्वासघाती हो ऐसा मत समझो, राजदरबारों या तीर्थस्थानोंमें तुमसे बढ़कर लुटेरे रहते हैं जो भोलेभाले सज्जनोंको निरन्तर लूटा करते हैं।

यह अन्योक्ति नहीं, व्याधके प्रति सामान्य उक्ति है। इस पद्यको पंडितराजने रसगङ्गाधरमें प्रतीप अलंकारके उदाहरणमें रक्खा है। प्रतीप अलंकार वहाँ होता है जहाँ उपमेय और उपमानमेंसे किसी एकका उत्कर्ष दिखाया जाय और उसी उत्कृष्ट गुणको दूसरेमें दिखाकर उसका परिहार किया जाय। जैसे इस पद्यमें व्याध उपमेय है, खल उपमान है, विश्वासघातकता दोनोंका सामान्य धर्म है। पहिले व्याधमें विश्वासघातकताका उत्कर्ष दिखाकर खलोंमें भी वह वैसी ही दिखा दी गई है जिससे उसका परिहार हो जाता है। शार्दूलविक्रिडीत छन्द है ॥ ६५ ॥

विश्वास्य मधुरवचनैः साधून्ये वञ्चयन्ति नम्रतमाः।
तानपि दधासि मातः काश्यपि यातस्तवापि च विवेकः ६६

अन्वय—मातः, काश्यपि, ये, नम्रतमाः, मधुरवचनैः, साधून्, विश्वास्य, वञ्चयन्ति, तान्, अपि, दधासि, तव, अपि, विवेकः यातः।

शब्दार्थ—मातः काश्यपि = हे माता पृथ्वी ! ये = जो । नम्रतमाः = नम्रतापूर्वक । मधुरवचनैः = मीठे वचनोंसे । विश्वास्य = विश्वास दिलाकर । साधून् = सज्जनोंको । वञ्चयन्ति = ठगते हैं । तानपि = उनको भी । दधासि = (तुम) धारण करती हो । तवापि च = क्या तुम्हारा भी । विवेकः = ज्ञान । यातः = नष्ट हो गया है ?

टीका—हे मातः = जननि ! कश्यपस्येयं काश्यपी, तत्सम्बुद्धौ काश्यपि = क्षिते ! (क्षोणिर्ज्या काश्यपी क्षितिः—अमरः), ये = जनाः । अतिशयेन नम्राः नम्रतमाः = अतिविनीता इवेत्यर्थः । स्वैः = स्वकीयैः । मधुराणि च तानि वचनानि तैः = मिष्टभाषणैः । साधून् = सज्जनान् । विश्वास्य = तद्धृदयेषु विश्वासमुत्पाद्य वञ्चयन्ति = प्रतारयन्ति । तान् । अपि । एवं भूतान् विश्वासघातकान् खलानपि इत्यर्थः । त्वं । दधासि = धारयसि । अतः । तव । अपि । च । विवेकः = विचारवत्त्वं, यातः = गत एव । न त्वमपि विवेकिन्यसीतिभावः ।

भावार्थ—हे माता पृथ्वि ! नम्र बनकर अपने प्रति विश्वास उत्पन्न कराते हुए जो खल, सज्जनोंको ठग लेते हैं उन्हें भी तुम धारण करती हो, तुम्हारा भी विवेक नष्ट हो गया ।

विशेष—"विश्वासघात ही सबसे महत्तम पाप है" इस भावको इस अन्योक्ति द्वारा व्यक्त किया है । हे काश्यपि ! यह विशेषण उसकी महत्ताका सूचक है अर्थात् कश्यप जैसे महर्षिकी सुता हो, तुम्हें तो पूर्ण विवेकशील होना चाहिये; किन्तु तुम ऐसे विश्वासघातियोंका भार वहन करती हो । कश्यप ऋषिकी १३ पत्नियोंसे, जो कि दक्षप्रजापतिकी कन्याएँ थीं, यह सारी सृष्टि उत्पन्न हुई है अतः कश्यपकी सन्तान होनेसे समग्र पृथ्वी काश्यपी कहलाती है । अथवा परशुराम जी ने संपूर्ण पृथ्वी निःक्षत्रिय करके कश्यप ऋषिको दानमें दे दी थी, तभीसे यह काश्यपी (कश्यपकी) कहलाती है ।

तुलना०—एकः स्वर्णमहीधरां क्षितिमिमां स्वर्णैकशृङ्गीं यथा
गामेकां प्रतिपाद्य कश्यपमुनौ न स्वात्मने श्लाघते ॥

विवेकके नष्ट होनेरूप अर्थका खलोंको धारण करने रूप अर्थसे समर्थन किया है अतः रसगंगाधरमें इसे काव्यलिङ्ग अलंकारके उदाहरणोंमें रक्खा है। गीतिछन्द है ॥६६॥

अन्या जगद्धितमयी मनसः प्रवृत्तिः
अन्यैव कापि रचना वचनावलीनाम् ।
लोकोत्तरा च कृतिराकृतिरार्तहृद्या
विद्यावतां सकलमेव गिरां दवीयः ॥६७॥

अन्वय—विद्यावतां, जगद्धितमयी, मनसः, प्रवृत्तिः, अन्या, वचनावलीनां, कापि, रचना, अन्या, एव, कृतिः, लोकोत्तरा च आकृतिः, आर्तहृद्या, सकलमेव, गिरां, दवीयः ।

शब्दार्थ—विद्यावतां = विद्वानोंकी । जगद्धितमयी = संसारका कल्याण करनेवाली । मनसः प्रवृत्तिः = मनकी कल्पना । अन्या = विलक्षण होती है। वचनावलीनां रचना = वाक्योंका विन्यास । अन्या एव = कुछ दूसरा ही (अद्भुत) होता है। कृतिः = कार्य । लोकोत्तरा = अलौकिक होता है। आकृतिः च = और आकृति भी । आर्तहृद्या = पीडितोंको तृप्तिदायक होती है। सकलमेव = उनका सभी कुछ । गिरां = वाणीसे । दवीयः = दूर (अर्थात् अवर्णनीय) होता है।

टीका—विद्या अस्ति येषां तेषां विद्यावतां = विपश्चितां । जगतः = विश्वस्य हितमयी हितं प्रचुरं यस्यां सा = कल्याणमयीत्यर्थः । मनसः = चेतसः । प्रवृत्तिः = प्रवर्तनक्रिया । अन्या = अद्वितीया एव भवति । वचनावलीनां = वाक्योक्तीनां । रचना = निर्माणप्रकारः । कापि = अन्यैव निरुपमगुणत्वेन विलक्षणैवेत्यर्थः । च = तथा । कृतिः = कर्म ।

लोकोत्तरा = लोकातिशायिनी भवति। आकृतिः=स्वरूपमपि। आर्तहृद्या आर्तानां = पीडितानां कृते हृद्या = मनोरमा तापहारिणी इति यावत्। भवति। एवं प्रकारेण सकलमेव = सम्पूर्णमेव कलापजातं। गिरां = वचसां। दवीयः = दूरतरं (दवीयश्च दविष्ठं च सुदूरे—अमरः) अवर्णनीयमित्यर्थः। भवति।

भावार्थ—विद्वानों की विश्वहितैषिणी मनोवृत्ति कुछ और ही होती है। उनके भाषणकी रीति भी निरुपमगुणशालिनी और विलक्षण होती है। उनके कार्य सर्वोत्कृष्ट होते हैं। उनकी आकृतिसे ही दुखियों-के दुःखनिवारणकी प्रतीति होती है। इस प्रकार उनका सारा कार्य-कलाप ऐसा होता है जो वाणी से अवर्णनीय है।

टिप्पणी—इस पद्यमें सामान्यतः विद्वान्की प्रशंसा की गयी है। साधारण मनुष्यकी अपेक्षा उसकी मनोवृत्ति विश्वके हितकार्यमें ही रहती है। उसकी बोलचालका ढंग विलक्षण होता है। उसके कार्य अद्वितीय होते हैं। उसकी मनोरम आकृतिको देखकर ही आर्तोंको पीड़ाशान्तिका आश्वासन होने लगता है। इस प्रकार उसका सारा कार्यकलाप ऐसा होता है जो साधारण वाणीसे अवर्णनीय है।

इस पद्यमें भेदकातिशयोक्ति अलंकार है। लक्षण—भेदकातिशयोक्तिस्तु तस्यैवान्यत्ववर्णनम्। रस-गंगाधर में भी यह पद्य अतिशयोक्तिका ही उदाहरण है। वसन्ततिलका छन्द है ॥६७॥

आपद्गतः किल महाशयचक्रवर्ती
विस्तारयत्यकृतपूर्वमुदारभावम्।
कालागरुर्दहनमध्यगतः समन्तात्
लोकोत्तरं परिमलं प्रकटीकरोति ॥६८॥

अन्वय—महाशयचक्रवर्ती, आपद्गतः, अकृतपूर्वम्, उदारभावं, विस्तारयति, किल, कालागरुः, दहनमध्यगतः, समन्तात्, लोकोत्तरं, परिमलं, प्रकटीकरोति।

शब्दार्थ—महाशयचक्रवर्ती = महापुरुषोंमें भी श्रेष्ठ (व्यक्ति)। आपद्गतः = विपत्तिग्रस्त होनेपर। किल = निश्चय ही। अकृतपूर्वं = जैसा पहिले नहीं किया था अर्थात् सम्पन्न अवस्थासे भी अधिक। उदारभावं = उदारताको। विस्तारयति = बढ़ा देता है। कालागरुः = चन्दन। दहनमध्यगतः = अग्निमें पड़ने पर। समन्तात् = चारों ओर। लोकोत्तरं = अलौकिक (अद्भुत)। परिमलं = सुगन्धको। प्रकटीकरोति = प्रकट करता है।

टीका—महान् = विशालः गम्भीरो वा आशयः = अभिप्रायो येषां ते महाशयाः तेषां चक्रवर्ती = सार्वभौमः, उदारचेतसां मूर्द्धन्य इत्यर्थः। आपद्गतः = विपत्तिग्रस्तः सन्। पूर्वं कृत इति कृतपूर्वः। तादृशो न भवतीति अकृतपूर्वः तम् = विचित्रमिति यावत्। उदारभावम् = औदार्यं। विस्तारयति = प्रसारयति। किल इति निश्चयेन। दृष्टान्तेनोक्तं समर्थयति कालागरुः = चन्दनविशेषः। दहनस्य = वह्नेः। मध्यगतः = मध्ये प्रक्षिप्तः सन्। समन्तात् = चतुर्दिक्। लोकोत्तरं = लोकातिशायिनं। परिमलं = सुगन्धं प्रकटीकरोति = आविर्भावयति।

भावार्थ—श्रेष्ठ पुरुष अपनी उदारताको विपत्तिकालमें और भी अधिक बढ़ा देते हैं जैसे कि चन्दनको अग्निमें डालनेपर उसकी गन्ध और भी तीव्र हो जाती है।

टिप्पणी—सत्पुरुष उदार तो स्वभावसे ही होते हैं किन्तु धैर्यवान् भी होते हैं। क्योंकि विपत्तिकालमें जबकि साधारण व्यक्ति हतबुद्धि हो जाता है, उनकी उदारता और अधिक प्रकट होने लगती है। इसी अर्थको दृष्टान्त देकर समर्थन करते हैं कि चन्दन स्वभावतः सुगन्धवाला

पदार्थ है किन्तु उसे जब आगपर डाला जाय तो उसकी गन्ध और भी तीव्रतर होकर सारे वायुमण्डलको सुरभित कर देती है।

इस पद्यको पण्डितराजने रसगंगाधरमें प्रतिवस्तूपमा अलंकारके उदाहरणोंमें रक्खा है। प्रतिवस्तूपमाका लक्षण उन्होंने दिया है—वस्तुप्रतिवस्तुभावापन्नसाधारणधर्मकवाक्यार्थयोरार्थमौपम्यं प्रतिवस्तूमा। अर्थात् जहाँपर एक ही साधारणधर्म; वस्तु और प्रतिवस्तुभावको प्राप्त दो वाक्यार्थोंमें सादृश्य दिखाता है वहाँ प्रतिवस्तूपमा अलंकार होता है। यदि यही विम्ब-प्रतिविम्ब भाव हो तो दृष्टान्त कहलाता है। वसन्ततिलका छन्द है ॥६८॥

विश्वाभिरामगुणगौरवगुम्फितानां
रोषोऽपि निर्मलधियां रमणीय एव।
लोकम्पृणैः परिमलैः परिपूरितस्य
काश्मीरजस्य कटुतापि नितान्तरम्या ॥६९॥

अन्वय—विश्वा· · ·गुम्फितानां, निर्मलधियां, रोषः, अपि, रमणीयः, एव, लोकम्पृणैः, परिमलैः, परिपूरितस्य, काश्मीरजस्य, कटुता, अपि, नितान्तरम्या।

शब्दार्थ—विश्वाभिरामगुण = जगत्में सुन्दर जो गुण, गौरवगुम्फितानां = (उनके) महत्त्वसे गुँथे हुए। निर्मलधियां = स्वच्छबुद्धिवालोंका। रोषोऽपि = क्रोध भी। रमणीय एव = मनोहर ही होता है। लोकम्पृणैः = संसारको तृप्त करनेवाले। परिमलैः = सुगन्धोंसे। परिपूरितस्य = भरे हुए। काश्मीरजस्य = काश्मीरी केसरकी। कटुता अपि = तीक्ष्णता (कड़वापन) भी। नितान्तरम्या = अत्यन्त रमणीय ही होती है।

टीका—विश्वस्मिन् = जगति अभिरामाः = रमणीया ये गुणाः = दयादाक्षिण्यादयः तेषां यद् गौरवं = पौष्कल्यं तेन गुम्फिताः = ग्रथिताः,

तेषाम् । एवंभूतानां । निर्मला = स्वच्छा धीः = मतिः येषां तेषां । सुमनसामित्यर्थः । रोषः = कोपः । अपि । रमणीय एव = सुन्दर एव, भवतीतिशेषः । दृष्टान्तेन स्पष्टयति—लोकं पृणन्तीति लोकम्पृणाः तैः = जगत्परितोषकैः । परिमलैः = आमोदैः । परिपूरितस्य = भरितस्य । काश्मीरजस्य = कुङ्कुमस्य । कटुता = तीक्ष्णता । अपि । नितान्तं रम्या नितान्तरम्या = सदैव रमणीया भवतीतिशेषः ।

भावार्थ—जगत्को सुन्दर लगनेवाले गुणोंसे युक्त, निर्मलबुद्धिवाले, सज्जनोंका कोप भी रमणीय ही होता है । जैसे अतिशय सुगन्धसे पूर्ण कुंकुमकी कटुता भी अच्छी ही लगती है ।

टिप्पणी—जहाँ गुणोंका ही बाहुल्य है वहाँ यदि एक-आध दोष भी हो तो वह उन गुणोंमें ढक जाता है । दूसरे शब्दोंमें जो सर्वदा भलाई ही करता है उससे यदि कोई बुराई भी हो गयी तो वह भी अच्छी ही लगती है; इसी भावको इस पद्यद्वारा स्पष्ट किया गया है । जैसे लोक-मोहक सुगन्धसे परिपूर्ण कुंकुमकी कड़वाहट भी अच्छी ही लगती है वैसे ही सकलगुणनिधान सज्जनोंका रोष भी लाभदायक ही होता है ।

तुलना०—"एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः" (कालिदास) । उक्त पद्यको भी रसगङ्गाधरमें प्रतिवस्तूपमा अलंकार के उदाहरणोंमें पढ़ा गया है । वसन्ततिलका छन्द है ॥ ६९ ॥

लीलालुण्ठितशारदापुरमहासम्पद्भराणां पुरो
विद्यासद्मविनिर्गलत्कणमुषो वल्गन्ति चेत्पामराः ।
अद्य श्वः फणिनां शकुन्तशिशवो दन्तावलानां शशाः
सिंहानां च सुखेन मूर्द्धसु पदं धास्यन्ति शालावृकाः ॥७०॥

अन्वय—विद्यासद्म···मुषः, पामराः, लीला···भराणां, पुरः, वल्गन्ति चेत्, अद्य, श्वः, वा, फणिनां, मूर्द्धसु, शकुन्तशिशवः,

दन्तावलानां, शशाः, सिंहानां, च शालावृकाः, सुखेनं, पदं, धास्यन्ति।

शब्दार्थ—विद्यासद्म = विद्याके आवासभूत (जो विद्वानोंके मुख, उनसे), विनिर्गलत् = निकलते हुए। (शब्दोंके) कण = छोटे-छोटे टुकड़ों (पदों) को, मुषः = चुरानेवाले। पामराः = नीच। लीलालुण्ठित = अनायास ही लूट लिया है, शारदापुरमहासम्पद्भराणां = सरस्वतीके नगरसे महान् सम्पत्तिके भारोंको जिन्होंने, ऐसे (अर्थात् उत्कृष्ट पाण्डित्यवाले) विद्वानोंके। पुरः = सामने। वल्गन्ति चेत् = यदि उछलते हैं तो। अद्य = आज। श्वः वा = अथवा कल। फणिनां मूर्धसु = सर्पोंके मस्तकपर। शकुन्तशिशवः = पक्षियोंके बच्चे। दन्तावलानां = हाथियोंके (मस्तक-पर)। शशाः = खरगोश। सिंहानां च = और सिंहोंके (मस्तकपर)। शालावृकाः = कुत्ते। सुखेन = आरामसे। पदं धास्यन्ति = पैर रखेंगे (लात मारेंगे)।

टीका—विद्यायाः यत् सद्म तस्मात् विनिर्गलन्तः = अवकरादिभिः सह भ्रश्यमाना ये कणाः = धान्यलेशा इवाक्षराद्यंशाः, तान् मुष्णन्ति = चोरयन्तीति, ते। एवंभूताः। अत एव। पामराः = नीचाः। लीलया = अवहेलया नत्वायासेन, लुण्ठिता = हठाद् गृहीता ये शारदा-पुरस्य = सरस्वतीनगरस्य महान्तश्च ते सम्पदां भराः=उत्कटैश्वर्यसंभाराः, यैस्ते, तेषां। निरतिशयपाण्डित्योत्कर्षवतामित्यर्थः। पुरः = अग्रे वल्गन्ति = स्फुरन्ति वाक्चापलं कुर्वन्ति। चेत्। अद्य = साम्प्रतं। श्वः = अग्रे वा। फणिनां = नागानां। मूर्धसु = मस्तकेषु। शकुन्तानां शिशवः = पक्षिशावका इत्यर्थः। दन्तावलानां = हस्तिनां (दन्ती दन्तावलो हस्ती —अमरः)। मूर्धसु। शशाः = पशुविशेषाः ('खरगोश' इति भाषा-याम्)। सिंहानां = मृगेन्द्राणां। मूर्धसु। शालावृकाः = शालासु = गेहेष्वेव वृकाः = वृकतुल्या इति। श्वान इत्यर्थः (शालावृको वलीमुखे

सारमेये शृगाले च—हेमः) सुखेन = अनायासेन । पदं धास्यन्ति = पादन्यासं करिष्यन्तीत्यर्थः ।

भावार्थ—विद्याएँ जिनके वदनमें घर कर गयी हैं ऐसे उद्भट विद्वानोंके मुखसे निकले हुए कुछ शब्दोंकी चोरी करके तुच्छ जन यदि अनायास ही शारदापुरकी सम्पत्ति (प्रकाण्ड पाण्डित्य) लूटनेवाले विद्वद्धौरेयोंके सामने धृष्टतापूर्वक बोलने लगें, तो समझ लो कि आज या कल निश्चय ही सर्पोंके सिरपर पक्षिशावक, हाथियोंके सिरपर शश और सिंहोंके मस्तकपर सियार या कुत्ते सरलतासे लात मारने लगेंगे ।

टिप्पणी—इस पद्यसे भी कविने अपने प्रकाण्ड पाण्डित्य एवं इतर पण्डितोंकी तुच्छताको व्यक्त किया है । वास्तवमें दो चार शब्द इधर-उधरके लेकर कोई पण्डितम्मन्य किसी विद्वान्‌से, जिसने सरस्वती समाराधनामें जीवन विताया है, टक्कर लेने चले तो यह ऐसी ही मूर्खता होगी जैसी कि सर्प, हाथी व सिंहके मस्तकोंपर पैर रखनेकी मूर्खता क्रमशः पक्षी, शश और सियार करने लगें ।

तुलना०—"हठादाकृष्टानां कतिपयपदानां रचयिता,
जनः स्पर्द्धालुश्चेदहह कविना वश्यवचसा ।
भवेदद्य श्वो वा किमिह बहुना पापिनि कलौ,
घटानां निर्मातुस्त्रिभुवनविधातुश्च कलहः ॥"

इस पद्यको पंडितराजने रसगंगाधरमें अर्थापत्ति अलंकारके उदाहरणमें रक्खा है, अर्थापत्तिका लक्षण है—"केनचिदर्थेन तुल्यन्यायत्वादर्थान्तरस्यापत्तिरर्थापत्तिः" अर्थात् किसी अर्थ के साथ समानता होनेसे अर्थान्तरका आ पड़ना अर्थापत्ति कहलाती है । यहाँपर भी प्रकृत महापंडितोंके सामने अल्पज्ञोंका बड़बड़ाना, अप्रकृत शेरके मस्तकपर कुत्तोंके लात मारने आदिके समान ही है । शार्दूलविक्रीडित छन्द है ॥७०॥

गीर्भिर्गुरूणां परुषाक्षराभि-
स्तिरस्कृता यान्ति नरा महत्त्वम्।
अलब्धशाणोत्कषणा नृपाणां
न जातु मौलौ मणयो वसन्ति ॥७१॥

अन्वय—गुरूणां, परुषाक्षराभिः, गीर्भिः, तिरस्कृताः, नराः, महत्त्वं, यान्ति, अलब्धशाणोत्कषणाः, मणयः, जातु, नृपाणां, मौलौ, न, वसन्ति।

शब्दार्थ—गुरूणां = गुरुओंकी। परुषाक्षराभिः = कठोर वर्णोंवाली। गीर्भिः = वाणियोंसे। तिरस्कृताः = धिक्कारे हुए। नराः = मनुष्य। महत्त्वं यान्ति = महत्ताको पा जाते हैं। अलब्ध = नहीं पाई है, शाणोत्कषणाः = सानपरकी रगड़ जिन्होंने ऐसे। मणयः = रत्न। जातु = कभी भी। नृपाणां मौलौ = राजाओंके मस्तकपर। न वसन्ति = नहीं रहते।

टीका—गुरूणां = सर्वविदां विदुषां, परुषाणि = निष्ठुराणि अक्षराणि = वर्णाः यासां ताभिः। न तु तादृगर्थाभिरपि इति अक्षरशब्देन ध्वन्यते। गीर्भिः = वाग्भिः, तिरस्कृताः = धिक्कृताः। अपि, नराः = मनुष्याः, महत्त्वम् = औन्नत्यं, यान्ति = गच्छन्ति। दृष्टान्तेन तदेव पुष्टीकरोति—अलब्धं = न प्राप्तं शाणेषु = निकषेषु उत्कषणं = घर्षणं यैस्ते एवं भूताः मणयः = रत्नानि जातु = कदाचिदपि नृपाणां = राज्ञां मौलौ = मस्तके न वसन्ति = न निधीयन्ते।

भावार्थ—सर्वज्ञ गुरुओंकी कड़ी फटकार जिनपर पड़ती है वे ही मनुष्य महत्त्वको प्राप्त करते हैं। विना खरादपर चढ़ी हुई मणियाँ राजाओंके मस्तकपर कभी नहीं रह सकतीं।

टिप्पणी—महात्माओंका क्रोध ही अच्छा नहीं होता प्रत्युत उनकी फटकार भी मनुष्यको महान् बना देती है। बड़ोंकी फटकार तभी पड़ती

है जब कोई अक्षम्य अपराध होता है। इससे मनुष्यको अपनी त्रुटियोंको समझनेका अवसर मिलता है, यही महान् बननेकी प्रथम सीढ़ी है। परुषाक्षराभिः से स्पष्ट होता है कि उस फटकारके अक्षर मात्र ही कठोर होते हैं उसके पीछे गुरुओंकी भावना बुरी नहीं होती और न अर्थ ही ऐसा गम्भीर और भयावह होता है। तात्पर्य यह है कि विना तिरस्कार सहे मनुष्य महान् नहीं बन सकता, इसी अर्थको दृढ़ करते हैं—विना खरादपर चढ़ी हुई मणियाँ राजमुकुटोंपर रहने योग्य नहीं होती।

इस पद्यको भी पण्डितराजने रसगङ्गाधरमें वैधर्म्यप्रतिपादिता प्रतिवस्तूपमा अलंकारके उदाहरणमें रक्खा है। उपजाति छन्द है, इसमें एक पाद इन्द्रवज्रा और एक उपेन्द्रवज्राका है, इन्द्रवज्रामें त त ज गु गु होते हैं और उपेन्द्रवज्रामें पहिलीमात्रा लघु हो जाती है ॥ ७१ ॥

वहति विषधरान् पटीरजन्मा
शिरसि मषीपटलं दधाति दीपः।
विधुरपि भजतेतरां कलङ्कं
पिशुनजनं खलु बिभ्रति क्षितीन्द्राः ॥७२॥

अन्वय—पटीरजन्मा, विषधरान्, वहति, दीपः, शिरसि, मषीपटलं, दधाति, विधुः, अपि, कलङ्कं, भजतेतरां, क्षितीन्द्राः, पिशुनजनं, बिभ्रति, खलु।

शब्दार्थ—पटीरजन्मा = मलयज (चन्दन)। विषधरान् = सर्पोंको, वहति = धारण करता है। दीपः = दीपक। शिरसि = माथेपर। मषीपटलं = काजलसमूहको। दधाति = धारण करता है। विधुः अपि = चन्द्रमा भी। कलङ्कं = कालिमाको। भजतेतरां = निरन्तर लिये रहता है। खलु = निश्चय ही। क्षितीन्द्राः = राजालोग। पिशुनजनं = खलसमूहको। बिभ्रति = धारण करते हैं।

टीका—पटीरो मलयः, तस्माज्जन्म यस्य सः, पटीरजन्मा = चन्दनः । विषधरान् = सर्पान् , वहति = धारयति, दीपः । शिरसि = स्वमस्तके, मषीपटलं = कज्जलसमूहं, दधाति = धारयति । विधुः = चन्द्रः, अपि, कलङ्कं = चिह्नं लाञ्छनमितियावत् , (कलङ्काङ्कौ लाञ्छनं च चिह्नं लक्ष्म च लक्ष्मणम्—अमरः) भजतेतराम् = स्वीकरोतीत्यर्थः । एवमेव क्षितीन्द्राः = नृपाः, अपि, पिशुनजनं = खलजनं, बिभ्रति = धारयन्ति । खलु = निश्चयेन इत्यर्थः ।

भावार्थ—चन्दन विषधर सर्पोंको लपटाये रहता है । दीपक काजलसमूहको सिरपर धारण किये है । चन्द्रमा सदा कलङ्कको लिये रहता है । इसी प्रकार राजागण भी पिशुनजनोंको पाले रहते हैं ।

टिप्पणी—६५ वें पद्यमें खलोंको सर्वाधिक निन्दनीय कहा है और यह भी कहा है कि बड़े-बड़े राजाओंके यहाँ और पुण्यक्षेत्रोंमें साधुओंका हनन करनेवाले ये पिशुन रहते हैं । इसपर शङ्का होती है कि प्रजाका पालन करनेवाले और धर्मप्राण ये नृपति या सम्पन्नव्यक्ति इनका संरक्षण क्यों करते हैं ? इसीके उत्तरमें यह पद्य है—जब दिव्यपदार्थ भी दोष-मुक्त नहीं रह पाते तो मानवकी बात ही क्या है । चन्दन सर्पोंसे घिरा रहता है, चन्द्रमा कलङ्कके विना नहीं रह सकता, दीपशिखासे कज्जल निकलता है । प्रायः सभी उत्तम व्यक्ति या पदार्थ किसी न किसी दोषसे दूषित रहते ही हैं । ऐसे ही सज्जन भी खलोंसे घिरे रहते हैं । दूसरी बात यह भी है कि खलोंसे घिरे रहनेके कारण सज्जनोंकी महत्ता या उदारता सीमित भले ही हो जाती है ; किन्तु दूसरों द्वारा अकारण नष्ट होनेसे वे बच जाते हैं । जैसे चन्दन यदि विषधरोंसे लिपटा न हो तो प्रतिक्षण मनुष्य उसे काटता रहे । इसलिये राजाओं या सम्पन्न व्यक्तियोंको भी इनका संरक्षण आवश्यक हो जाता है ।

इस पद्यको भी रसगङ्गाधरमें प्रतिवस्तूपमा अलंकारके उदाहरणोंमें रक्खा है । यह मालाप्रतिवस्तूपमा है ।

पुष्पिताग्रा छन्द है। लक्षण—"अयुजि नयुग रेफतो यकारो युजि च न जौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा।" (वृत्त०)॥ ७२॥

सत्पूरुषः खलु हिताचरणैरमन्द-
मानन्दयत्यखिललोकमनुक्त एव।
आराधितः कथय केन करैरुदारै-
रिन्दुर्विकासयति कैरविणीकुलानि॥७३॥

अन्वय—सत्पूरुषः, अनुक्तः, एव, हिताचरणैः, अखिललोकम्, असन्दम्, आनन्दयति, इन्दुः, केन, आराधितः, उदारैः, करैः, कैरविणीकुलानि, विकासयति खलु, कथय।

शब्दार्थ—सत्पूरुषः = सज्जन व्यक्ति। अनुक्त एव = विना कहे ही। हिताचरणैः = भलाई करके। अखिललोकम् = सारे संसारको। अमन्दम् = अत्यन्त। आनन्दयति = आनन्दित कर देता है। इन्दुः = चन्द्रमा। केन आराधितः = किससे प्रार्थना किया गया। उदारैः = (अपनी) फैली हुई। करैः = किरणोंसे। कैरविणीकुलानि = कुमुदिनी-समूहको। विकासयति खलु = विकसित करता है। कथय = कहो।

टीका—संश्चासौ पूरुषश्च सत्पूरुषः = साधुजन इत्यर्थः (स्युः पुमांसः पञ्चजनाः पुरुषाः पूरुषाः नराः—अमरः)। न उक्तः अनुक्तः = केनाप्यप्रार्थितः, एव, हिताचरणैः हितानि च तानि आचरणानि च तैः = कल्याणव्यापारैः। अखिलं च तल्लोकं च अखिललोकं = सम्पूर्ण जगत्। अमन्दं = प्रचुरं यथास्यात्तथा। आनन्दयति = तुष्टीकरोति। खलु निश्चयेन। तदेव दृष्टान्तेन द्रढयति—इन्दुः = चन्द्रः। केन = जनेन। आराधितः = प्रार्थितः। सन्। उदारैः = विस्तृतैः। करैः = किरणैः। कैरविणीनां = कुमुदिनीनां कुलानि = समूहानि इति तानि।

विकासयति = विकचानि करोतीत्यर्थः। इति। कथय = वद। त्वमेव इति शेषः।

भावार्थ—सज्जन पुरुष विना किसीके कहे ही हितकर कार्यों द्वारा सारे संसारको अत्यन्त आनन्दित कर देते हैं। तुम्हीं कहो कि चन्द्रमा किसके कहनेसे अपनी विस्तृत किरणोंसे कुमुदिनीपुञ्जोंको विकसित कर देता है।

टिप्पणी—दुर्जन कितनी ही दुर्जनता करे तो भी सज्जनको खिन्न न होकर सबकी हितकामना ही करनी चाहिये। क्योंकि जैसे दुष्टका स्वभाव ही दुष्टता करनेका होता है, उसे किसीकी प्रेरणाकी आवश्यकता नहीं रहती, ऐसे ही सज्जन भी स्वभावतः दूसरोंका हित ही चाहते हैं उनसे उसके लिये प्रार्थना नहीं करनी पड़ती। इसी अर्थको चन्द्रमाका उदाहरण देकर पुष्ट करते हैं—कि तुम्हीं कहो चन्द्रमा जो अपनी किरणें फैलाकर कुमुदिनी-कुलको विकसित करता है, उसके लिये उससे कौन प्रार्थना करने जाता है।

यह अन्योक्ति किसी ऐसे व्यक्तिको लक्ष्य करके कही गयी है जो दुर्जनोंकी दुष्टतासे तंग आकर प्रतीकारकी भावना करने लगा हो। रसगंगाधरमें यह पद्य दृष्टान्त अलंकारका उदाहरण है। पण्डितराजके शब्दोंमें दृष्टान्तका लक्षण है—"प्रकृतवाक्यार्थघटकानामुपमादीनां साधारणधर्मस्य विम्वप्रतिविम्वभावे दृष्टान्तः" जैसे प्रतिवस्तूपमामें साधारणधर्मका दो वाक्यार्थोंमें वस्तु-प्रतिवस्तुभाव होता है, ऐसे ही दृष्टान्तमें विम्व-प्रतिविम्वभाव होता है। यहाँ 'सत्पुरुष'—'इन्दु', 'अनुक्तएव'—'आराधितः कथय केन' तथा 'आनन्दयति'—'विकासयति' इनमें विम्व-प्रतिविम्व भाव है। वसन्ततिलका छन्द है॥ ७२॥

परार्थव्यासङ्गादुपजहदथ स्वार्थपरता-
मभेदैकत्वं यो वहति गुणभूतेषु सततम्।

स्वभावाद्यस्यान्तः स्फुरति ललितोदात्तमहिमा
समर्थो यो नित्यं स जयतितरां कोऽपि पुरुषः ॥७४॥

अन्वय—यः, परार्थव्यासङ्गात्, स्वार्थपरताम्, उपजहत्, अथ, गुणभूतेषु, सततम्, अभेदैकत्वं, वहति, यस्य, अन्तः, स्वभावात्, ललितोदात्तमहिमा, स्फुरति, यः, समर्थः, सः, कोऽपि, पुरुषः, नित्यं, जयतितराम्।

शब्दार्थ—यः = जो। परार्थव्यासङ्गात् = दूसरोंके भलेमें लगनेसे। स्वार्थपरतां = अपने भलेकी चिन्ताको। उपजहत् = छोड़ देता है। अथ = और। गुणभूतेषु = (शान्ति आदि) गुणोंमें। सततं = निरन्तर। अभेदेन = अभिन्नतासे। एकत्वं = एकरूपताको। वहति = धारण करता है। यस्य अन्तः = जिसके हृदयमें। स्वभावात् = जन्मसे ही। ललितः = सुन्दर। उदात्तमहिमा = महान् होनेका गौरव। स्फुरति = चमकता है। यः समर्थः = जो समर्थ है। स कोऽपि पुरुषः = वह कोई भी पुरुष। नित्यं = नित्य ही। जयतितराम् = अत्यन्त श्रेष्ठ है।

टीका—यः = जनः। परस्मै अयं परार्थः, स चासौ व्यासङ्गः = दत्तचित्तत्वं तस्मात् परार्थव्यासङ्गात् = परोपकारार्थमित्यर्थः। हेतौ पञ्चमी। स्वार्थपरतां = स्वीयहितपरायणताम्। उपजहतीति उपजहत् = त्यजतीत्यर्थः। अथ = तथाच। यः सततं = निरन्तरं। गुणा एव गुणभूताः तेषु = मूर्तिमच्छान्त्यादिगुणेषु इतिभावः (युक्ते क्ष्मादावृते भूतम्—अमरः)। न विद्यते भेदो यस्मिन् तच्च तदैकत्वं इति अभेदैकत्वं = द्वैतावभासरहितत्वं। वहति = धारयति। यस्य अन्तः = हृदि। ललितः = सुन्दरः। उदात्तमहिमा = वदान्यमाहात्म्यं। स्वभावाद् = निसर्गाद् एव। ननु लोकप्रार्थनया इतिभावः। स्फुरति। यः समर्थः = दक्षः। अस्ति। स=एवंभूतः। कोऽपि = अनिर्वाच्यगुणनिकरः। पुरुषः। जयतितरां = सर्वोत्कर्षेण वर्ततेतराम् इत्यर्थः।

भावार्थ—जो दूसरोंकी भलाईके लिये अपने स्वार्थको छोड़ देता है, निरन्तर गुणीजनोंके साथ अभिन्नताका व्यवहार रखता है, जिसके अन्तः-करणमें स्वभावसे ही उदारताकी सुन्दर महिमा स्फुरित होती है और जो सब कर्मोंमें समर्थ है, उस अद्भुत प्रभावशाली व्यक्तिकी जय हो।

टिप्पणी—यह सामान्यतया सज्जनपुरुषकी प्रशंसा है। पहिले विशेषणसे सज्जनकी परमगुणज्ञता, तीसरेसे उदाराशयता और चौथेसे अद्भुत प्रभावशालित्व व्यक्त होता है। ऐसे व्यक्ति सबका कल्याण ही चाहते हैं चाहे दुर्जन हो या सुजन। यह पद्य रसगंगाधरमें समासोक्ति अलंकारके उदाहरणोंमें पढ़ा गया है। समासोक्ति अलंकार वहाँ होता है जहाँ कार्य, लिङ्ग और विशेषणोंके द्वारा प्रस्तुतमें अप्रस्तुतके व्यवहारका आरोप किया जाय। यहाँ प्रस्तुत सज्जनके व्यवहारमें अप्रस्तुत तत्पुरुष-समासके व्यवहारका आरोप किया गया है। जैसे 'राज्ञः पुरुषः' (राजाका पुरुष) यह तत्पुरुष समास है। इसमें 'राजा' और 'पुरुष' ये दोनों शब्द अपने अपने अर्थ (स्वार्थ) को छोड़ देते हैं। क्योंकि राजपुरुष न तो राजा ही है न (सामान्य) पुरुष ही। 'राजसेवामें तत्पर पुरुष' यह परार्थ है जिसके लिये ये दोनों शब्द स्वार्थत्याग करते हैं। अभेदैकत्वं जहाँ भिन्न-भिन्न संख्याएँ अभेदेन एक ही राजशब्दमें संनिविष्ट हैं। अर्थात् राज्ञः पुरुषः, राज्ञोः पुरुषः, राज्ञां पुरुषः तीनों विग्रहोंसे 'राजपुरुषः' यही होता है। यही राजशब्द गुणभूत है। क्योंकि तत्पुरुषमें उत्तरपद प्रधान होता है सुतरां पूर्वपद विशेषण होनेसे गौण हो जायगा। उदात्तमहिमा सभी शब्दोंके उदात्तादि तीन स्वर होते हैं किन्तु "समासस्य" (६।१।२२३ पा०) सूत्रसे समासमें अन्तोदात्त ही होता है। यः नित्यं समर्थः परस्पर जिनका अन्वय हो सकता है वे समर्थ शब्द कहलाते हैं। जैसे "राज्ञः अवलोक-यति पुरुषः" इसमें न तो राज्ञः का अवलोकयतिके साथ अन्वयसम्बन्ध हो सकता है न पुरुषः का। अतः "समर्थः पदविधिः" (२।१।१ पा०)

इस नियमसे इसमें समास नहीं होगा, किन्तु राजपुरुषः में राज्ञः और पुरुषः दोनोंमें अन्वयसम्बन्धकी योग्यता है अतः नित्य समर्थ है। दूसरे शब्दोंमें, यों कह सकते हैं कि समर्थके आश्रित ही समास होता है अन्यथा नहीं।

इस प्रकार सज्जन-प्रशंसारूप लौकिक व्यवहारमें शास्त्रीय (तत्पुरुष समासके) व्यवहारका आरोप होनेसे यह समासोक्ति अलंकार है। शिखरिणी छन्द है ॥७४॥

वंशभवो गुणवानपि सङ्गविशेषेण पूज्यते पुरुषः।
नहि तुम्बीफलविकलो वीणादण्डः प्रयाति महिमानम् ७५

अन्वय—वंशभवः, गुणवान्, अपि, पुरुषः, सङ्गविशेषेण, पूज्यते, हि, तुम्बीफलविकलः, वीणादण्डः, महिमानं, न प्रयाति।

शब्दार्थ—वंशभवः = (अच्छे) वंश = कुलमें उत्पन्न। (तथा) गुणवान् अपि = गुणों = दयादाक्षिण्यादिसे युक्त भी। पुरुषः = व्यक्ति। संगविशेषेण = ऊँची संगतिसे ही। पूज्यते = पूजा जाता है। तुम्बीफल-विकलः = तूँबेसे रहित। वीणादण्डः = वीणाका डण्डा (वंशभवः = अच्छे बाँसका होनेपर तथा, गुणवान् अपि = तारयुक्त होनेपर भी)। महिमानं = महत्त्वको। न प्रयाति = नहीं प्राप्त होता।

टीका—वंशः कुलं पक्षे वेणुः तस्माद्, भवः = जातः सद्वंशजातोऽपीत्यर्थः। गुणाः शमादयः तन्तवश्च सन्ति अस्येति, गुणवान् = गुणयुक्तः, अपि, पुरुषः सङ्गविशेषेण = विशिष्टव्यक्तिसंसर्गेण एव, पूज्यते = पूजार्हो भवति। हि = यतः, तुम्बी = अलाबू तस्याः, फलेन विकलः = विहीनः। वीणादण्डः = तन्त्रीलगुडः, महिमानं = महत्त्वं, न प्रयाति = नगच्छति।

भावार्थः—अच्छे कुलमें उत्पन्न और गुणोंसे अलंकृत पुरुष भी सत्सङ्गसे ही पूजनीय होता है, जैसे जबतक तुम्बेसे न जुड़ जाय, तबतक अच्छी जातिवाला या तारसहित भी वांसका डण्डा कुछ महत्त्व नहीं रखता।

टिप्पणी—"संसर्गजा दोषगुणाः भवन्ति" जो व्यक्ति जैसी सङ्गति करता है धीरे-धीरे उसके गुणदोष अवश्य ही उसपर अपना प्रभाव जमा लेते हैं। इसलिये महान्‌की महत्ता भी तभी रक्षित रहती है जबकि वह संगति भी महान्‌की ही करे। इसी भावको इस पद्य द्वारा व्यक्त किया गया है—अच्छे वंशमें उत्पन्न और अच्छे गुणोंसे युक्त व्यक्ति यदि दुर्जनोंकी संगतिमें रहेगा या सज्जनोंके संसर्गमें न रहेगा तो उसका कोई भी आदर न करेगा। जैसे वाँसका डण्डा सामान्यतः डण्डा ही है। चाहे अच्छे वाँसका हो या तार उसमें वँधे हों तव भी वह कोई आदरका पात्र नहीं। किन्तु वही जब तुम्बेसे जोड़ दिया जाय तो वीणाका रूप धारण कर लेता है जिसकी झंकारसे जगत् मोहित हो जाता है। यही सत्सङ्गतिका महत्त्व है।

इस पद्यको रसगंगाधरमें वैधर्म्यप्रयुक्ता प्रतिवस्तूपमा अलंकारके उदाहरणमें रक्खा गया है। इसमें वंशभव और गुणवान् पद श्लिष्ट हैं जो पुरुष और वीणादण्डके विशेषण हैं। अतः यह श्लेषसे अनुप्राणित है। गीतिछन्द है ॥७५॥

अमितगुणोऽपि पदार्थो दोषेणैकेन निन्दितो भवति।
निखिलरसायनमहितो गन्धेनोग्रेण लशुन इव ॥७६॥

अन्वय—अमितगुणः, अपि, पदार्थः एकेन, दोषेण, निन्दितः, भवंति, निखिलरसायनमहितः, लशुनः, उग्रेण, गन्धेन, इव।

शब्दार्थ—अमितगुणः अपि = असीम गुणोंवाला भी। पदार्थः = वस्तु। एकेन दोषेण = एक ही दोषसे। निन्दितः भवति = निन्दनीय हो जाता है। निखिलरसायनमहितः = समग्र रसायनोंमें श्रेष्ठ। लशुनः = लहसुन। उग्रेण = तीव्र। गन्धेन इव = गन्धसे जैसे।

टीका—अमिताः = असंख्याः गुणाः यस्य सः अमितगुणः = विविधगुणगणालङ्कृतः। अपि। पदार्थः = वस्तु, एकेन दोषेण। निन्दितः

= गर्हितः । भवति । निखिलानां = सर्वेषां रसायनानाम् = औषधानां महितः = पूजितः । श्रेष्ठ इति यावत् । एवंभूतः । लशुनः तन्नामकं महौषधम् । उग्रेण = तीव्रेण । गन्धेन = घ्राणेन्द्रियतर्पणविषयभूतेन । इव ।

भावार्थ—सर्वगुणसम्पन्न पदार्थ भी एक ही दोषके कारण कभी कभी निन्दनीय हो जाता है । जैसे संपूर्ण रसायनोंमें श्रेष्ठ लहसुन केवल तीव्र दुर्गन्धके कारण गर्हित समझा जाता है ।

टिप्पणी—अच्छेकी अपेक्षा बुरेका प्रभाव शीघ्र पड़ता है । यदि किसीमें दोष अधिक हों गुण कम हों तव तो कहना ही क्या है; दोष गुणोंको दवा ही डालेंगे, किन्तु गुणोंका वाहुल्य होनेपर भी प्रवल दोष यदि एक भी हो तो वह सारे गुणोंको वेकार करके पदार्थको निन्दनीय वना देता है । जैसे लहसुन ।

आयुर्वेदमें लशुनको अत्यन्त ही गुणकारी रसायन माना गया है। इसीलिये उसे महौषध या रसराज कहा जाता है । किन्तु ऐसे गुणमय पदार्थको सामान्यतः शास्त्रकारोंने अभक्ष्य कहा है—

लशुनं गृञ्जनं चैव पलाण्डु कवकानि च । अभक्ष्याणि द्विजातीनाम-मेध्यप्रभवाणि च ॥ मनु० ५।५ । क्योंकि उसकी दुर्गन्ध अत्यन्त ही तीव्र होती है । केवल एक दुर्गन्ध-दोषके कारण उसके सारे गुण व्यर्थ हो जाते हैं ।

तुलना०—कालिदासके "एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः" इस श्लोकपर किसी कविकी उक्ति—

एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीत्येव हि यो वभाषे ।
न तेन दृष्टः कविना कदाचित् दारिद्र्यदोषो गुणराशिनाशी ॥
(सुभा०)

सामान्य दोष तो गुणोंकी अधिकता होनेपर छिप भी जाता है; किन्तु महान् दोष चाहे एक ही क्यों न हो गुणोंको ढक देता है ।

इस पद्यको रसगंगाधरमें उदाहरण अलंकार माना है।

लक्षण—सामान्येन निरूपितस्यार्थस्य सुखप्रतिपत्तये तदेकदेशं निरूप्य तयोरवयवावयविभाव उच्यमान उदाहरणम्। इस पद्यमें भी पूर्वार्ध सामान्य वचन है और उत्तरार्द्ध विशेष वचन। इसीलिये यह उपमा नहीं है। आर्या छन्द है ॥७६॥

उपकारमेव तनुते विपद्गतः सद्गुणो नितराम्।
मूर्च्छांगतो मृतो वा निदर्शनं पारदोऽत्र रसः ॥७७॥

अन्वय—सद्गुणः, नितरां, विपद्गतः, उपकारम्, एव, तनुते, अत्र, मूर्छा, गतः, मृतः, वा, पारदः, रसः, निदर्शनम्।

शब्दार्थ—सद्गुणः = अच्छे गुणोंवाला (सज्जन) व्यक्ति। नितरां = अत्यन्त। विपद्गतः = विपत्तिग्रस्त हुआ भी। उपकारमेव तनुते = (दूसरोंका) उपकार ही करता है। अत्र = इस विषयमें। मूर्च्छां गतः = मूर्च्छाको प्राप्त। मृतः वा = अथवा मरा हुआ। पारदः रसः = पारद रस। निदर्शनम् = उदाहरण है।

टीका— सन्तः = शुभाः गुणाः अस्यासौ सद्गुणः = सज्जन इति यावत्। नितराम् = अतीव विपद्गतः = आपत्तिग्रस्तः। अपि। परेषाम् = अन्येषाम्। उपकारम् = हितम्। एव। तनुते = विस्तारयति। अत्र = विषये। मूर्छां गतः = केनचिद्युक्तिविशेषेण स्तम्भितः। मृतः = भस्मीभूतः। वा। पारदः = तदाख्यः। रसः = रसायनं। निदर्शनम् = उदाहरणं वर्तते इति शेषः।

भावार्थ—अत्यन्त विपत्तिग्रस्त होनेपर भी गुणवान् व्यक्ति दूसरोंका उपकार ही करता है। मूर्छित या मृत पारद रस इसका उदाहरण है।

टिप्पणी—सज्जनकी यह विशेषता होती है कि वह स्वयं विपत्ति सहता

हुआ भी अपकारीका उपकार ही करता है। (देखिये पद्य ६८ भी) इसलिये सत्संग ही करना चाहिये। इसी भावको उक्त पद्यद्वारा व्यक्त किया है। इस विषयपर पारेका दृष्टान्त दिया है। पारेको किसी भी औषधमें प्रयुक्त करनेसे पूर्व उसका कुछ विशेष प्रक्रिया द्वारा मारण या मूर्च्छन किया जाता है अर्थात् उसे भस्म या स्तम्भित कर दिया जाता है जिससे उसके गुण अमृततुल्य हो जाते हैं। यही उसकी सज्जनता है कि मारण या मूर्च्छन करनेवालेको वह अमृततुल्य गुण दर्शाता है।

यह भी रसगंगाधरमें उदाहरण अलंकारमें दिया गया है। उपगीति छन्द है। गीतिका प्रत्येक चरण आर्याके पूर्वार्द्ध जैसा होता है और उपगीतिका उत्तरार्द्ध जैसा अर्थात् इसके पादोंमें १२।१५ मात्राएँ होती हैं ॥७७॥

वनान्ते खेलन्ती शशकशिशुमालोक्य चकिता
भुजप्रान्तं भर्तुर्भजति भयहर्तुः सपदि या।
अहो सेयं सीता दशवदननीता हलरदैः
परीता रक्षोभिः श्रयति विवशा कामपि दशाम् ॥७८॥

अन्वय—या, वनान्ते, खेलन्ती, शशकशिशुम्, आलोक्य, चकिता, सपदि, भयहर्तुः, भर्तुः, भुजप्रान्तं, भजति, अहो, सा, इयं, सीता, दशवदननीता, हलरदैः, रक्षोभिः, परीता, विवशा, काम्, अपि, दशां, श्रयति।

शब्दार्थ—या = जो। वनान्ते = वनप्रदेशमें। खेलती हुई, शशकशिशुम् = खरगोशके बच्चेको। आलोक्य = देखकर। चकिता = डरी हुई, सपदि = तत्काल। भयहर्त्तुः = भयहरनेवाले। भर्त्तुः = पति (रामचन्द्रजी) के। भुजप्रान्तं = वक्षःस्थलमें, भजति = चिपक जाती है। अहो = आश्चर्य है। सा इयं सीता = वही यह सीता। दशवदननीता =

रावणसे हरी गई । हलरदैः = हल जैसे दाँतोंवाले । रक्षोभिः = राक्षसोंसे । परीता = घिरी हुई । विवशा = पराधीन । काममपि = किसी अनिर्वाच्य । दशां = अवस्थाको । श्रयति = भोग रही है ।

टीका—या सीतेत्यग्रेण सम्बन्धः । वनान्ते = दण्डकारण्यैकप्रदेशे, खेलन्ती = क्रीडां कुर्वन्ती, शशकशिशुं = शशकशावकम् , आलोक्य—दृष्ट्वा । चकिता = भीता, सती । सपदि = झटिति, भयं हरतीति तस्य भयहर्तुः = भीतिनिवारकस्य, भर्तुः = रामचन्द्रस्य, भुजप्रान्तं = बाहुमध्यं, भजति = श्रयतिस्म । अहो = इत्याश्चर्ये, सा एव = पूर्वोक्ता, इयं = सीता, दशवदनेन = रावणेन, नीता = अपहृता, तथा, हलानीव रदाः येषान्ते हलरदाः = लांगलदन्ताः तैः एवंभूतैः भयानकैरित्यर्थः, रक्षोभिः = निशाचरैः, परीता = परितः आवृता, अत एव, विवशा = पराधीना, सती, काममपि = अवर्णनीयां, दशाम् = अवस्थां भीतिप्रचुरामितियावत् , श्रयति = भजति ।

भावार्थ—दण्डकवनमें क्रीडा करती हुई जो सीता, छोटेसे खरगोशके बच्चेको देखकर भी मारे डरके भयहारी पतिदेव रामचन्द्रजीके वक्षस्थलसे चिपट जाती थी; वही सीता रावणद्वारा हरी गयी, भयानक लम्बे दाढ़ोंवाले राक्षसोंसे घिरी हुई, विवश होकर किस अवर्णनीय दशाको भोग रही है ।

टिप्पणी—दुर्जन-संगतिकी पूर्व पद्योंमें निन्दा कर चुके हैं, यदि कोई कहे कि 'दुर्जनसंगतिसे दुर्बुद्धि आती है और दुर्बुद्धिसे मनुष्य पापकी ओर प्रवृत्त होता है इसीलिये वह निन्दनीय है, किन्तु पाप हो जानेपर भी 'धर्मेण पापमपनुदति' इस सिद्धान्तके अनुसार धर्म करके पापकी निवृत्ति हो सकती है । अतः यदि क्षणिक दुःसङ्गका भी अनुभव कर लें तो क्या हानि है ?" इसी प्रश्नका सीताकी अन्योक्ति द्वारा निवारण करते हैं कि जान बूझकर दुर्जन-संगतिको कौन कहे ; अनिच्छासे भी दुर्जनके संसर्गमें आनेपर बेचारी सीताकी क्या दशा होगयी थी ? जो सीता खरं-

गोशके वच्चेको देखकर भी डरती थी और भयहारी पतिदेवसे लिपट जाती थी, उसीको दुर्जन रावणके संसर्गमें आज भयानक राक्षस घेरे खड़े हैं।

भयहर्तुः, विशेषणसे रामचन्द्रजीका भवभयहारित्वेन उत्कर्ष सूचित होता है, साथ ही यह भी ध्वनित होता है कि अत्यन्त ऐश्वर्यमदसे भी दुर्जन सङ्गति करना अहितकर ही होता है। अपने स्वामीकी जिस वलवत्ताके भरोसे सीता खरगोशके वच्चेसे भी डरकर उनसे लिपट जाती थी, आज इन प्रचण्ड राक्षसोंसे घिरनेपर वह भयहारित्व सीताके किस काम आ रहा है ?

इस पद्यको रसगङ्गाधरमें विषम अलंकार माना है। लक्षण—अननुरूपसंसर्गो विषमम्। यहाँ दिव्य सौन्दर्यवती सीताका राक्षसोंसे संसर्ग अननुरूप है। रसगंगाधरमें पाठ इस प्रकार है—"अहो सेयं सीता शिव शिव परीता श्रुतिचलत्करोटीकोटीभिर्वसति खलु रक्षोयुवतिभिः ॥" शिखरिणी छन्द है ॥७८॥

पुरो गीर्वाणानां निजभुजबलाहोपुरुषिका-
महो कारं कारं पुरभिदि शरं सम्मुखयतः।
स्मरस्य स्वर्बालानयनसुममालार्चनपदं
वपुः सद्यो भालानलभसितजालास्पदमभूत् ॥७९॥

अन्वय—अहो, गीर्वाणानां, पुरः, निजभुजबलाहोपुरुषिकां, कारंकारं, पुरभिदि, शरं, सम्मुखयतः, स्मरस्य, स्वर्बालानयनसुममालार्चनपदं, वपुः, सद्यः, भालानलभसितजालास्पदम्, अभूत्।

शब्दार्थ—अहो = आश्चर्य है कि। गीर्वाणानां = देवताओंके। पुरः = सामने। निजभुजबलाहोपुरुषिकाम् = अपने बाहुबलकी आहोपुरुषिका

(=घमंड) को। कारं कारं = करते-करते। पुरभिदि = शिवजीपर। शरं = वाणको। सम्मुखयतः = तानते हुए। स्मरस्य = कामदेवका। स्वर्बाला- = स्वर्गकी सुन्दरियों (अप्सराओं) के, नयनसुममाला = नेत्ररूप कुसुमों-की मालासे, अर्चनपदं = पूजाके योग्य। वपुः = शरीर। सद्यः = तत्काल। भालानल = ललाटकी अग्निसे, भसितजालास्पदम् = राखकी ढेर जैसा। अभूत् = होगया।

टीका—अहो=आश्चर्यम्। गीर्वाणानां = देवानां। पुरः = अग्रे। निजस्य = आत्मनः यद् भुजबलं = बाहुबलं, तेन या आहोपुरुषिका = गर्वेण धन्यंमन्यता सा, ताम्। (आहोपुरुषिकादर्पाद्या स्यात्संभावनात्मनि–अमरः) कारं कारं = भूयोभूयः कृत्वेत्यर्थः। पुरभिदि = पुरं भिनत्तीति पुरभिद् तस्मिन् = त्रिपुरनाशके शिवे। शरं = वाणं। सम्मुखयतः = अभिमुखं कुर्वतः, स्मरस्य = मदनस्य। स्वः = स्वर्गसम्बन्धिन्यः याः वालाः = अप्स-रसः तासां नयनानि तान्येव सुमानि = पुष्पाणि (सु = शोभना मा = लक्ष्मी येषु तानि, इति विग्रहात् 'लक्ष्मी पद्मालया पद्मा' इति कोशाच्च कमलानि) तेषां या माला इव माला = कटाक्षपरम्परा, तया यदर्चनं = पूजनं तस्य पदं = स्थानभूतं। एतादृशं वपुः = शरीरं। सद्यः = तत्क्षणमेव। भालस्य = धूर्जटिललाटस्य यः अनलः = वह्निः तेन यद् भसितजालं = भस्मपुञ्जं (भूतिर्भसितभस्मनि–अमरः) तस्य आस्पदं = स्थानमभूत्।

भावार्थ—देवताओंके सम्मुख वारवार अपने वलका अहंकार करके त्रिपुरारिकी ओर वाण साधते हुए कामदेवका, स्वर्गकी अप्सराओंके नयनारविन्दोंकी मालासे शोभित होनेवाला शरीर, तत्काल ही शंकरकी ललाटज्वालासे भस्मीभूत हो गया।

टिप्पणी—प्रबलपराक्रमी, रूपवान् और गुणवान् व्यक्ति भी महा-त्माओंका अपकार करनेकी भावना करे तो स्वयं ही नष्ट हो जाता है। इसी भावको इस अन्योक्ति द्वारा व्यक्त किया है। जब देवताओंके सम्मुख

अपने भुजबलकी डींग हांकनेवाला जगद्विजयी कामदेव भगवान् शंकर-को अपने बाणका लक्ष्य बनाने लगा तो क्षणभरमें ही उनकी नेत्रप्रसूत-ज्वालासे भस्म हो गया। तुलना०—

अतिमात्रबलेषु चापलं विदधानः कुमतिर्विनश्यति।
त्रिपुरद्विषि वीरतां वहन्नवलिप्तः कुसुमायुधो यथा॥ (रसगंगाधर)

पुरभिदि, यह शिवजीका विशेषण साभिप्राय है। त्रिभुवनसे अजेय त्रिपुरको जिन्होंने भेदन करदिया, उनके सामने क्षुद्र पञ्चशर क्या ठहरता? यह भाव है। जो कामदेव बड़े दर्पसे शिवजीको वश करने गया था वह स्वयं भस्म हो गया अर्थात् कारण भिन्न था पर कार्य भिन्न ही हो गया इस-लिये विषम अलंकार है। पंडितराजने भी रसगंगाधरमें इस पद्यको विषम अलंकारके ही उदाहरणोंमें रक्खा है। उनके लक्षणके अनुसार दूसरेको दुःख न होकर अपनेको ही दुःख होनेसे अननुरूप संसर्ग हो गया अतः विषम अलंकार हुआ। शिखरिणी छन्द है॥७९॥

युक्तं सभायां खलु मर्कटानां
शाखास्तरूणां मृदुलासनानि।
सुभाषितं चीत्कृतिरातिथेयी
दन्तैर्नखाग्रैश्च विपाटितानि॥८०॥

अन्वय— मर्कटानां, सभायां, तरूणां, शाखाः, मृदुलासनानि, चीत्कृतिः, सुभाषितं, दन्तैः, नखाग्रैश्च, विपाटितानि, आतिथेयी, खलु।

शब्दार्थ—मर्कटानां = वानरोंकी। सभायां = सभामें। तरूणां शाखाः = वृक्षोंकी शाखाएँ। मृदुलासनानि = कोमल आसन हैं। चीत्कृतिः = चीं-ची करना ही। सुभाषितं = अच्छे-अच्छे भाषण हैं। दन्तैः नखा-

ग्रैश्च = दाँतों और नखोंकी नोकोंसे। विपाटितानि = फाड़ना ही। आतिथेयी = अतिथिसत्कार है। युक्तं खलु = यह ठीक ही है।

टीका—मर्कटानां = वानराणां (मर्कटो वानरः कीशो—अमरः) सभायां = समितौ, तरूणां = वृक्षाणां, शाखाः = क्षुपाः। मृदुलानि = कोमलानि च तानि आसनानि = विष्टराणि तानि। भवन्तीतिशेषः। चीत्कृतिः = चीत्कारः। सुभाषितं = शोभनभाषणानि। भवन्ति। तथा दन्तैः = रदैः नखाग्रैः = कररुहाग्रभागैः च। विपाटितानि = परस्पर-विदारणानि। एव। आतिथेयी = अतिथिषु भवा सत्क्रिया इत्यर्थः। भवति इति युक्तं = समीचीनमेव खलु।

भावार्थ—बन्दरोंकी सभामें वृक्षशाखाएँ ही मृदुल आसन, चीत्कार ही भाषण, परस्पर दांतों और नाखूनोंकी नोच-खसोट ही अतिथिसत्कार होना युक्त ही है।

टिप्पणी—जो जैसी प्रकृतिका है उसके सभी कार्योंका वैसाही होना स्वाभाविक है। इसी भावको वन्दरकी इस अन्योक्तिद्वारा व्यक्त किया है। जहाँ सज्जन एकत्र होंगे वहाँ वातावरण भी सभ्यताका होगा, जब सभा ही वन्दरों (मूर्खों) की हुई तो उनसे सिवा मूर्खताके और आशा ही क्या की जा सकती है। पंडितराजने इसे सम अलंकार माना है। सम विषमका ही उलटा है। अननुरूप संसर्ग होने पर विषम अलंकार होता है तो अनुरूप संसर्ग होनेपर सम अलंकार होगा। यहाँ भी वन्दरों-की सभामें जैसा होना चाहिये वही हो रहा है, अतः अनुरूप संसर्ग हुआ। उपजाति छन्द है॥८०॥

किं तीर्थं हरिपादपद्मभजनं किंरत्नमच्छा मतिः
किं शास्त्रं श्रवणेन यस्य गलति द्वैतान्धकारोदयः।

किं मित्रं सततोपकाररसिकं तत्त्वावबोधः सखे !
कः शत्रुर्वद खेददानकुशलो दुर्वासनानां चयः ॥८१॥

अन्वय—सखे ! वद, तीर्थं किं ? हरिपादपद्मभजनं, रत्नं किं ? अच्छा मतिः, शास्त्रं किं ? यस्य, श्रवणेन, द्वैतान्धकारोदयः, गलति, सततोपकाररसिकं, मित्रं किं ? तत्त्वावबोधः, शत्रुः कः ? खेददानकुशलः, दुर्वासनानां, चयः ।

शब्दार्थ—सखे वद = हे मित्र कहो ! तीर्थं किं = तीर्थ क्या है ? हरिपादपद्मभजनं = भगवान्‌के चरणकमलोंकी सेवा (ही तीर्थ है)। रत्नं किं = रत्न क्या है ? अच्छा मतिः = निर्मलबुद्धि (ही उत्तम रत्न है)। शास्त्रं किं = शास्त्र क्या है ? यस्य श्रवणेन = जिसको सुननेसे। द्वैतान्धकारोदयः = द्वैतरूप अन्धकारका समूह। गलति = नष्ट हो जाता है (वही शास्त्र है)। सततोपकाररसिकं = निरन्तर उपकार करनेमें निपुण। मित्रं किं = मित्र कौन है ? तत्त्वाववोधः = वास्तविकताका ज्ञान (अथवा सांख्यशास्त्रमें प्रसिद्ध प्रकृत्यादि २५ तत्त्वोंका ज्ञान) ही मित्र है। शत्रुः कः = शत्रु कौन है ? खेददानकुशलः = दुःख देनेमें चतुर। दुर्वासनानां चयः = बुरे संस्कारोंका समूह (ही शत्रु है)।

टीका—हे सखे = मित्र ! वद = कथय। तीर्थं = पुण्यक्षेत्रं। पापापहारि इति यावत्। किं = किमस्तीति प्रश्नविषयम्, तदेवोत्तरयति—हरेः = विष्णोः, ये पादपद्मे = चरणारविन्दौ, तयोः भजनं = सेवनं तदेव सर्वोत्कृष्टं तीर्थमित्यर्थः। रत्नं = मणिः। किं ? अच्छा = निर्मला। मतिः = बुद्धिः। शास्त्रं = हितोपदेशविषयं। किं ? यस्य = शास्त्रोपदेशस्य श्रवणेन = आकर्णनेन द्वैतान्धकारस्य = जीवात्मपरमात्मनोर्भेदरूपस्य तमसः, उदयः = आविर्भावः। गलति = विनश्यति। तदेव शास्त्रम्। सततं = निरन्तरम्, उपकारे = हितकर्मणि, रसिकम् = निरन्तरोपकार-

परायणम् इत्यर्थः। मित्रं=सुहृत् किं? तत्त्वस्य=याथार्थ्यस्य अवबोधः=प्राप्तिः। शत्रुः=रिपुः कः? खेदं=दुःखं तस्य दाने=वितरणे कुशलः=चतुरः नित्यं दुःखप्रद एवेत्यर्थः। एवंभूतः। दुष्टाश्च ताः वासनाश्च दुर्वासनाः, तासां=गर्हितसंस्काराणां। चयः=समूहः। स एव महान् शत्रुरित्यर्थः।

भावार्थ—हे मित्र कहो तीर्थ क्या है? भगवान्के चरणारविन्दका भजन। रत्न क्या है? निर्मलबुद्धि। शास्त्र क्या है? जिसके श्रवणसे जीव और परमात्मामें भेदबुद्धि नष्ट हो जाती है। निरन्तर उपकारी मित्र कौन है? तत्त्वावबोध (ज्ञानप्राप्ति)। निरन्तरदुःखदायी शत्रु कौन है? दुर्वासनाओंका समूह।

टिप्पणी—पुरुषार्थ-चतुष्टय (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) की कामनावाले पुरुषोंको उनकी प्राप्तिके लिये क्रमशः हरिपादपद्मभजन, निर्मलबुद्धि, अद्वैतप्रतिपादक शास्त्र और तत्त्वावबोध ही आवश्यक साधन हैं। अर्थात् हरिपाद पद्म भजनादिके द्वारा ही धर्मादिकी प्राप्ति हो सकती है किन्तु यह तभी होता है जब कि इनमें विघ्न करनेवाले शत्रु—दुर्वासनासमूहको नष्ट कर दिया जाय। जब तक दुर्वासनाएँ रहेंगी तब तक मनुष्य न तो भगवद्भजन ही सफलतापूर्वक कर सकेगा, न उसकी बुद्धि ही निर्मल रह पायेगी, न शास्त्र ही उसके द्वैतभावको नष्ट करनेमें समर्थ होगा और न उसे तत्त्वावबोध ही हो सकेगा। यदि यह सब न हुआ तो पुरुषार्थ-चतुष्टयकी प्राप्ति भी असंभव ही है। इसीको प्रश्नोत्तर रूपमें इस पद्यमें स्पष्ट किया है।

इस पद्यको पंडितराजने रसगंगाधरमें परिसंख्या अलंकारका उदाहरण माना है। लक्षण—सामान्यतः प्राप्तस्य अर्थस्य कस्माच्चिद्विशेषाद् व्यावृत्तिः परिसंख्या। अर्थात् सामान्यतः प्राप्त अर्थको किसी विशेष अर्थसे रोक देना, जैसे, हरिपादपद्म भजन ही तीर्थ है अन्य नहीं आदि। शार्दूलविक्रीडित छन्द है ॥८१॥

निष्णातोऽपि च वेदान्ते साधुत्वं नैति दुर्जनः ।
चिरं जलनिधौ मग्नो मैनाक इव मार्दवम् ॥८२॥

अन्वय—वेदान्ते, निष्णातः, अपि, दुर्जनः, साधुत्वं, न एति, चिरं, जलनिधौ, मग्नः, मैनाकः, मार्दवम् , इव ।

शब्दार्थ—वेदान्ते = वेदान्त शास्त्रमें । निष्णातः अपि = निपुण भी । दुर्जनः = खल व्यक्ति । साधुत्वं = सज्जनताको । न एति = नहीं प्राप्त होता । चिरं = दीर्घकालतक । जलनिधौ = समुद्रमें । मग्नः = डूबा हुआ । मैनाकः = मैनाक पर्वत । मार्दवम् इव = कोमलताको जैसे (नहीं प्राप्त होता) ।

टीका—वेदान्ते = तत्त्वावबोधके शास्त्रे । निष्णातः = नितरां स्नातः पारङ्गत इत्यर्थः । अपि । दुर्जनः = खलः । साधुत्वं = सज्जनतां । न । एति = गच्छति । चिरं = दीर्घकालं यावत् । जलनिधौ = समुद्रे । मग्नः = ब्रुडितः । मैनाकः = तदाख्यः पर्वतः, मार्द्वम् = कोमलत्वम् इव ।

भावार्थ—वेदान्तमें पारंगत होनेपर भी दुर्जन, सज्जन नहीं हो जाता। जैसे दीर्घकालतक समुद्रमें डूबा हुआ भी मैनाक पर्वत पिघल नहीं जाता ।

टिप्पणी—शास्त्रोंको रटकर विद्वत्ता बघार लेना आसान है; किन्तु उसीको व्यवहारमें भी चरितार्थ कर दिखाना टेढ़ी खीर है । फिर सज्जनता और दुर्जनता तो नैसर्गिक देन है । जिसके जैसे संस्कार बन जाते हैं उन्हें बदल देना असम्भवप्राय है । इसी भावको इस पद्यद्वारा व्यक्त किया गया है । शास्त्रोंका निरन्तर अध्ययन करते रहनेसे मनुष्य वेदान्त जैसे गहनशास्त्रमें भी निष्णात हो सकता है; किन्तु स्वाभाविक दुर्जनता तो सज्जनतामें तभी बदल सकती है जबकि संस्कार ही बदल जायँ । जैसे

मैनाकपर्वत सदा जलमें डूबा रहता है किन्तु फिर भी वह गलता नहीं। किसी भी पर्वतमें रहनेवाली कठोरता उसमें ज्योंकी त्यों रहती है, क्योंकि वह उसका स्वाभाविक गुण है।

पुराणोंमें प्रसिद्ध है कि पर्वतोंको पहिले पंख होते थे और वे पक्षियों-की भाँति ही जहाँ-तहाँ उड़ जाया करते थे। इससे वड़ी हानि होती थी। अतः इन्द्रने अपने वज्रसे इनके पंख काट डाले। इन्द्रकी डरसे मैनाक पर्वत समुद्रमें छिप गया और तवसे वहीं है।

इस पद्यमें पंडितराजने अवज्ञा अलंकार माना है। रसगंगाधरमें उल्लास अलंकारका विवेचन करनेके वाद वे अवज्ञाका लक्षण करते हैं—तद्विपर्ययोऽवज्ञा अर्थात् किसीके गुणों या दोषोंका प्रसंग रहनेपर भी दूसरेमें आधान न होना अवज्ञा अलङ्कार है। जैसे यहाँ जगत्के मिथ्यात्व-प्रतिपादक वेदान्त शास्त्रमें निष्णात होनेपर भी वेदान्तका फलभूत वैराग्यरूप गुण खलमें नहीं आया। ऐसे ही घुला देना जलका गुण है, उसमें निरन्तर रहनेपर भी मैनाक घुल न सका। यही विपर्यय हुआ। अनुष्टुप् छन्द है ॥ ८२ ॥

नैर्गुण्यमेव साधीयो धिगस्तु गुणगौरवम्।
शाखिनोऽन्ये विराजन्ते खण्ड्यन्ते चन्दनद्रुमाः ॥८३॥

अन्वय—नैर्गुण्यम्, एव, साधीयः, गुणगौरवम्, धिक् अस्तु, अन्ये, शाखिनः, विराजन्ते, चन्दनद्रुमाः, खण्डयन्ते।

शब्दार्थ—नैगुर्ण्यम् एव = निर्गुण (गुणहीन) होना ही। साधीयः = श्रेष्ठ है। गुणगौरवम् = गुणों के महत्त्वको। धिगस्तु = धिक्कार है। अन्ये शाखिनः = दूसरे वृक्ष। विराजन्ते = खड़े रहते हैं। चन्दनद्रुमाः = चन्दन-के पेड़। खण्डयन्ते = काटे जाते हैं।

टीका—निर्गुणस्य भावः नैर्गुण्यं = गुणहीनत्वं मौढ्यमितियावत्। एव

साधीयः = साधु (साधीयान् साधुवाढयोः—अमरः) अस्तीति शेषः। गुणानां गौरवं गुणगौरवं = गुणज्ञतेतियावत्। धिक् अस्तु। तदेव द्रढयति अन्ये = इतरे। शाखाः सन्ति येषां ते शाखिनः = वृक्षाः (वृक्षो महीरुहः शाखी—अमरः) विराजन्ते = यथावत्तिष्ठन्ति। किन्तु। चन्दनद्रुमाः = मलयजवृक्षाः। खण्ड्यन्ते = छिद्यन्ते। सुगन्धिरूपगुणवत्तयेति भावः।

भावार्थ—गुणहीन होना ही अच्छा है, गुणवत्ताको धिक्कार है। वनमें अन्य वृक्ष तो ज्योंके त्यों खड़े रहते हैं; किन्तु चन्दनके वृक्ष ही काटे जाते हैं।

टिप्पणी—जो व्यक्ति जितना गुणवान् होता है लोग उसे उतनाही अधिक परेशान करते हैं। क्योंकि गुणहीनके पास कोई जायेगा ही क्यों? उससे किसीके उपकारकी तो आशा ही नहीं हो सकती। लोगोंसे सताये गये खिन्न गुणवान्की यह उक्ति है। इसीको अर्थान्तरसे पुष्ट किया है—जैसे वनमें वृक्ष तो अन्य भी होते हैं; किन्तु अत्यन्त सुगन्धिमान् होनेसे लोग चन्दनको ही टुकड़े-टुकड़े कर देते हैं। अर्थात् उसका सुगन्धिगुण ही उसके लिये वारवार काटे जानेका कारण बन जाता है।

इस पद्यमें टीकाकार अच्युतरायने नैर्गुण्यका अर्थ अद्वैतब्रह्मत्व और गुणगौरवका अर्थ सत्त्वादिगुणोंका प्रपञ्च मानकर श्लेष अलंकार माना है। पंडितराजने इसे रसगंगाधरमें लेश अलंकारके उदाहरणोंमें रक्खा है। गुणोंकी इष्टसाधनताका दोषरूपसे और दोषोंकी अनिष्टसाधनताका गुण रूपसे जहाँ वर्णन किया जाय वहाँ पर लेश अलंकार होता है। अर्थान्तरन्याससे अनुप्राणित है। अनुष्टुप् छन्द है ॥८३॥

परोपसर्पणानन्तचिन्तानलशिखाशतैः।
अचुम्बितान्तःकरणाः साधु जीवन्ति पादपाः ॥८४॥

अन्वय—परोप.....शतैः, अचुम्बितान्तःकरणाः, पादपाः, साधु, जीवन्ति।

शब्दार्थ—परोपसर्पणानन्त = दूसरोंके पास जानेसे अत्यन्त, चिन्तानलशिखाशतैः = चिन्तारूप अग्निकी सैकड़ों ज्वालाओंसे । अचुम्बितान्तःकरणाः = जिनके अन्तःकरण नहीं छूए गये हैं, वे। पादपाः = वृक्ष। साधु जीवन्ति = अच्छी प्रकार जीते हैं।

टीका—परम् = अन्यं प्रति यत् उपसर्पणं = गमनं, तेन अनन्ताः = असीमा याः चिन्ताः ता एव अनलः = अग्निः, तस्य शिखानाम् = अलातानां शतानि, तैः = स्वीययोगक्षेमार्थं परं प्रति गमनेनोत्पन्नासीमचिन्ताग्निज्वालाभिरित्यर्थः। न चुम्बितम् अन्तःकरणं येषां ते अचुम्बितान्तःकरणाः = अस्पृष्टमतयः पादभ्यां पिवन्तीति पादपाः = वृक्षाः। साधु = शोभनं यथास्यात्तथा, जीवन्ति = वर्तन्ते।

भावार्थ—अपने कल्याणके लिये दूसरोंकी आशारूप असीम चिन्तानलकी लपटोंसे जिनके अन्तःकरण अछूते रहते हैं, वे वृक्ष ही धन्य जीवन व्यतीत करते हैं।

टिप्पणी—पहिले वता चुके हैं कि अकारण दूसरोंका उपकार करनेवाले सज्जन विरले ही होते हैं। सामान्यतः मनुष्यका स्वभाव होता है वह कोई भी कार्य करनेसे पूर्व यह सोच लेता है कि इस कार्यको करनेसे मेरा क्या प्रयोजन सिद्ध होगा। "प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते।" अपनी प्रयोजनसिद्धिके लिये जब हम दूसरोंके पास जाते हैं तो हमें चिन्ताओंका होना स्वाभाविक है। अमुक व्यक्ति हमारा काम करेगा या नहीं ? यदि करेगा तो वदलेमें हमसे क्या चाहेगा ? यदि उसने कुछ भी न चाहा तो हम उसके उस उपकारका बदला कैसे चुकायेंगे ? यदि नहीं चुकायेंगे तो उसके ऋणी रह जायेंगे, आदि। ये चिन्ताएँ ही मनुष्यको नष्ट कर डालती हैं इसलिये इन्हें अग्निका रूप दिया है।

तुलना०—"चिता दहति निर्जीवं चिन्ता दहति सजीवकम्" जंगलमें उत्पन्न होनेवाले वृक्ष अपने स्वार्थ-साधनकी इन चिन्ताओंसे मुक्त

रहते हैं अंतः उनका जीवन धन्य है। पादप शब्द स्वावलम्बिताका बोधक है। अर्थात् दूसरोंके भरोसे जीनेवाले हम मानवोंकी अपेक्षा अपने पैरोंपर खड़े रहनेवाले ये वृक्ष ही धन्य हैं। यही इस वृक्षान्योक्तिका तात्पर्य है।

इस पद्यमें प्रस्तुत वृक्षकी प्रशंसा द्वारा अप्रस्तुत स्वावलम्बी सज्जनकी प्रशंसा व्यक्त होती है, अतः अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार है। अनुष्टुप् छन्द है ॥८४॥

शून्येऽपि च गुणवत्तामातन्वानः स्वकीयगुणजालैः।
विवराणि मुद्रयन् द्राक् ऊर्णायुरिव सज्जनो जयति ॥८५॥

अन्वय—सज्जनः, ऊर्णायुः, इव, स्वकीयगुणजालैः, शून्ये, अपि गुणवत्ताम्, आतन्वानः, च विवराणि, द्राक्, मुद्रयन्, जयति।

शब्दार्थ—सज्जनः = सज्जन व्यक्ति। ऊर्णायुः इव = मकड़ीकी तरह। स्वकीयगुणजालैः = अपने सद्गुणोंके समूहसे। शून्ये अपि = जड़ मनुष्योंमें भी। गुणवत्ताम् = गुणवत्ताको। आतन्वानः = फैलाता हुआ। विवराणि = छिद्रोंको (दोषोंको)। द्राक् = शीघ्र ही। मुद्रयन् = ढकता हुआ [स्वकीयगुणजालैः = अपने शरीरसे निकले तन्तुओंके समूहसे। शून्येऽपि = कोनेमें भी। गुणवत्तां = तन्तुयुक्त होनेके गुणको। आतन्वानः = फैलाते हुए। विवराणि = छेदोंको। द्राक् मुद्रयन् = शीघ्र ढक देते हुए—] ऊर्णायुः इव = मकड़ीकी तरह। जयति = सर्वश्रेष्ठ है।

टीका—सज्जनः। ऊर्णायुः = ऊर्णनाभः मर्कट इति यावत् ('मकड़ी' इति भाषायां) इव। (लूता स्त्री तन्तुवायोर्णनाभमर्कटकाः समाः—अमरः) स्वकीयाश्च ते गुणाः = वाग्मित्वादयः तन्तवश्चेति उभयत्र सम्बन्धः। तेषां जालानि = समूहाः तदाख्यरचनाविशेषाश्च, तैः। शून्ये = शून्यहृदये पुंसि गृहकोणे वा। अपि। गुणवत्तां = निरुक्तगुणवैशिष्ट्यम्। आतन्वानः =

विस्तारयन्। च = तथा विवराणि = परदूषणानि गृहच्छिद्राणि च। द्राक् = शीघ्रमेव। मुद्रयन् = आच्छादयन्। जयति = सर्वोत्कर्षेण वर्तते।

भावार्थ—उस सज्जन पुरुषकी जय हो जो मकड़ीकी तरह अपने गुणसमूहोंसे गुणवत्ताका प्रसार करके शीघ्र ही छिद्रोंको ढक देता है।

टिप्पणी—जैसे मकड़ी शून्य (एकान्त) स्थानमें अपने गुणों (तन्तुजालों)—को फैलाकर जाल (जाला) लगाती हुई वहाँके विवरों (छिद्रों)—को ढक देती है उसीप्रकार सज्जन पुरुष भी शून्य (हृदयहीन) मूर्ख जनोंमें अपने गुणों (वाग्मित्व आदि)—का प्रसार करते हुए अपने गुण जालों (समूहों) से उन मूर्खोंके विवरों (दोषों)—को ढक देते हैं। अर्थात् सज्जनके सहवाससे मूर्खोंके हृदयमें भी गुणोंका प्रसार होने लगता है और उनके दोष छिप जाते हैं।

यहाँ शून्य, गुण, विवर और मुद्रण ये पद श्लिष्ट हैं, जिनसे सज्जन और मकड़ीका सादृश्य दिखाया गया है। अतः श्लिष्टोपमा अलंकार है। आर्या छन्द है ॥८५॥

खलः सज्जनकार्पासरक्षणैकहुताशनः।
परदुःखाग्निशमनो मारुतः केन वर्ण्यताम् ॥ ८६ ॥

अन्वय—सज्जन……हुताशनः, परदुःखाग्निशमनः, मारुतः, खलः, केन, वर्ण्यताम्।

शब्दार्थ—सज्जनकार्पास = सज्जनरूप रुईके, रक्षणैकहुताशनः = बचानेमें एकमात्र अग्नि जैसा। परदुःखाग्निशमनः = दूसरोंके दुःखरूप अग्निको बुझानेवाला, मारुतः = वायु (जैसा)। खलः = दुर्जन। केन वर्ण्यताम् = किससे वर्णन किया जाय? (अर्थात् ऐसे खलका कौन वर्णन करे)।

टीका—सज्जना एव कार्पासाः = तूलविशेषाः तेषां रक्षणे = परि-

पाल्ने, यिरोधिलक्षणया तु विनाशने, एकश्चासौ हुताशनश्च। एवं-भूतः। यथा कार्पासरक्षणे हुताशनस्यासम्भाव्यत्वं तथैव सज्जनरक्षणेऽस्यापीतिभावः। एवमेव। परेषाम्=अन्येषां यत् दुःखं=शोकः तदेवाग्निः तस्य शमनः=निर्वापकः। विरोधिलक्षणया तु दीपनः। मारुतः=पवनः स इव। यथा मारुतः वह्निं दीपयत्येव न तु शमयति तथैवायमपि खलः परदुःखरूपमग्निं वर्द्धयत्येव नतु शमयतीति लक्षणायाः विरोधित्वम्। एवंभूतः, खलः केन=जनेन वर्ण्यताम्=कथ्यताम्।

भावार्थ—सज्जनरूप रूईकी रक्षाके विषयमें अग्निसदृश और दूसरोंके दुःखरूप अग्निकी शान्तिके विषयमें वायुसदृश खलका कौन वर्णन करे।

टिप्पणी—यहाँ रक्षण और शमन शब्दोंमें विरोधी लक्षणा है। मुख्य अर्थका बाध करके जहाँ अन्य अर्थकी प्रतीति हो उसे लक्षणा कहते हैं। वह प्रतीत होनेवाला अर्थ यदि मुख्य अर्थका विरोधी हो तो वह विरोधी लक्षणा कहलाती है। "सज्जनरूप रूईकी रक्षामें अग्निके सदृश और परदुःखरूप अग्निकी शान्तिमें वायु सदृश" इस वाक्यमें अग्निसे रूईकी रक्षा और मारुतसे अग्निका शमन असम्भव है। अतः रक्षणका दहन और शमनका दीपन अर्थमें पर्यवसान करना पड़ता है। क्योंकि ये ही उनके स्वाभाविक गुण हैं जो मुख्य शब्दार्थके नितान्त विरोधी हैं। अतः यह विरोधी लक्षणा हुई। तात्पर्य यह है कि खल, सज्जनरूप रूईके लिये अग्नि, और परदुःखरूप अग्निके लिये पवन है, अतः उसका वर्णन कौन करे।

इस पद्यमें सज्जनको रूई और खलको अग्नि रूपमें वर्णित किया गया है अतः रूपक अलङ्कार है। लक्षण–तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोः (काव्यप्रकाश)। यहाँ खल और सज्जन उपमेय हैं अग्नि और कार्पास उपमान। अनुष्टुप् छन्द है ॥८६॥

परगुह्यगुप्तिनिपुणं गुणमयमखिलैः समीहितं नितराम् ।
ललिताम्बरमिव सज्जनमाखव इव दूषयन्ति खलाः ॥८७॥

अन्वय—आखवः, इव, खलाः, ललिताम्बरम्, इव, परगुह्य-गुप्तिनिपुणं, गुणमयम्, अखिलैः, नितरां, समीहितं, सज्जनं, दूषयन्ति ।

शब्दार्थ—आखवः = चूहे । परगुह्यगुप्तिनिपुणं = दूसरोंके गुह्य (= गुप्त अंगोंको) गुप्ति (ढकने) में निपुण । (तथा) गुणमयं = तागोंसे बने हुए । अखिलैः = सबजनोंसे । नितरां समीहितं = निरन्तर चाहे गये । ललिताम्बरं = सुन्दर वस्त्रको । इव = जैसे । (ऐसेही) खलाः = दुर्जन । [परगुह्यगुप्तिनिपुणं = दूसरोंकी गुप्त बातों को छिपाये रखनेमें कुशल । (तथा) गुणमयं = गुणवान् । अखिलैः = सब जनोंसे । नितरां = निरन्तर । समीहितं = चाहे गये] सज्जनम् = सज्जन व्यक्तिको । दूषयन्ति = दूषित कर देते हैं ।

टीका—आखवः = मूषकाः (उन्दुरुर्मूषकोऽप्याखुः —अमरः) । इव । खलाः = दुर्जनाः । ललितं च तत् अम्बरं च ललिताम्बरं = मनोरमवस्त्रम् तदिव । परेषाम् = अन्येषां यत् गुह्यं = गुप्तं मेढ्रादि सज्जनपक्षे धनादि, तस्य या गुप्तिः = गोपनं तत्र निपुणं = प्रवीणं । गुणाः प्रचुराः सन्त्यस्मिन् इति गुणमयम् = तन्तुनिर्मितं, सज्जनपक्षे शान्त्यादि गुणप्रचुरम् । अखिलैः = सर्वैरपि जनैः = नितरां । समीहितं = वाञ्छितं । उभयत्र समान एवार्थः । एवंभूतं सज्जनं । दूषयन्ति = खण्डयन्ति सज्जनपक्षे दोषयुतं कुर्वन्ति ।

भावार्थ—दूसरोंके गुप्तांगोंको ढकने में निपुण, गुणों (तन्तुओं)-से बने हुए, सर्वप्रिय वस्त्रको जैसे चूहे दूषित (नष्ट) कर डालते हैं, ऐसे ही दुर्जन भी दूसरोंकी गुप्त बातोंको सुरक्षित रखनेवाले, गुणों (दाक्षिण्यादि) से युक्त और सर्वप्रिय सज्जनको दूषित (दोषयुक्त) बना देते हैं ।

टिप्पणी—'परगुह्यगुप्तिनिपुणं' और 'गुणमयं' पद द्व्यर्थक हैं और दुर्जनकी चूहेसे उपमा दी गई है अतः श्लिष्टोपमा अलंकार है। आर्या छन्द है ॥८७॥

यशःसौरभ्यलशुनः शान्तिशैत्यहुताशनः ।
कारुण्यकुसुमाकाशः खलः सज्जनदुःखलः ॥ ८८ ॥

अन्वय—सज्जनदुःखलः, खलः, यशःसौरभ्यलशुनः, शान्ति-शैत्यहुताशनः, कारुण्यकुसुमाकाशः ।

शब्दार्थ—सज्जनदुःखलः = सज्जनोंको दुःखदेनेवाला । खलः = दुर्जन, यशःसौरभ्यलशुनः = यशरूप सुगन्धके लिये लहसुन (जैसा)। शान्तिशैत्यहुताशनः = शान्तिरूप शीतलताके लिये अग्नि जैसा । कारुण्य-कुसुमाकाशः = करुणारूप फूलके लिये आकाश (जैसा) है ।

टीका—खलः, सज्जनानां = साधूनां दुःखं लाति = ददातीति दुःखलः = कष्टप्रद इत्यर्थः यश एव सौरभ्यं = सौगन्ध्यं तस्य लशुन इव लशुनः यशःसौरभ्यलशुनः यथा लशुने कालत्रयेऽपि सुगन्धोत्पत्तिरसंभाव्या तथैवास्मिन्नपि स्वप्नेऽपि यशोलब्धिरसंभवैव इत्यर्थः। शान्तिरेव शैत्यं तस्य हुताशन इवानुत्पत्तिहेतुत्वात् हुताशनः = वह्निः । कारुण्यं = करुणा (कारुण्यं करुणा घृणा-अमरः) तदेव कुसुमं = पुष्पं तस्य आकाश इवानु-त्पत्तिकारणमाकाशः । एवंभूतः। भवति। 'दुःखदः' इति पाठे तु स्पष्टमेव ।

भावार्थ—सज्जनोंको दुःख देनेवाला खल यशरूप सुगन्धके लिये लशुन, शान्तिरूप शीतलताके लिये वह्नि और करुणारूप कुसुमके लिये आकाशके सदृश ही है ।

टिप्पणी—लशुनमें इतनी उग्र गन्ध होती है कि दूसरी सुगन्ध उसके सामने ठहर ही नहीं सकती, इसी प्रकार यशरूप सुगन्धके लिये दुर्जन भी लशुनकी

भाँति ही है उसको स्वप्नमें भी यशःप्राप्ति हो नहीं सकती। जहाँ अग्नि हो वहाँ शीतलता टिक नहीं सकती, ऐसे ही खलको कभी शान्ति नहीं मिलती। आकाशमें कभी फूल नहीं खिलते, इसी प्रकार करुणारूप पुष्पके लिये खल भी आकाश ही है अर्थात् उसके हृदयमें कभी भी करुणाका संचार हो नहीं सकता। इसलिये वह निरन्तर सज्जनोंको दुःखदायी ही है।

यशको सुगन्ध, शान्तिको शीतलता और कारुण्यको कुसुमका रूप दिया गया है, अतः रूपक अलंकार है तथा खलकी लशुन, वह्नि और आकाशसे उपमा अर्थतः प्रतीत होती है अतः लुप्तोपमा भी है। इस प्रकार दोनोंकी संसृष्टि हुई। अनुष्टुप् छन्द है ॥८८॥

धत्ते भरं कुसुमपत्रफलावलीनां
घर्मव्यथां वहति शीतभवां रुजं च।
यो देहमर्पयति चान्यसुखस्य हेतो-
स्तस्मै वदान्यगुरवे तरवे नमोऽस्तु ॥८९॥

अन्वय—अन्यसुखस्य, हेतोः, यः, कुसुमपत्रफलावलीनां, भरं, धत्ते, घर्मव्यथां, शीतभवां, रुजं, च वहति, देहम्, अर्पयति, वदान्यगुरवे, तस्मै, तरवे, नमोऽस्तु।

शब्दार्थ—यः = जो। अन्यसुखस्य हेतोः = दूसरोंके सुखके लिये। कुसुमपत्र-फलावलीनां = फूल, पत्ते और फलसमूहके। भरं = भारको। धत्ते = धारण करता है। घर्मव्यथां = घामके कष्टको। शीतभवां = शीतसे होनेवाली। रुजं च = व्यथाको भी। वहति = सहता है। देहं = शरीरको। (इंधनादि रूपमें) अर्पयति = समर्पण कर देता है। तस्मै = उस। वदान्यगुरवे = दाताओंमें श्रेष्ठ। तरवे = वृक्षके लिये। नमोऽस्तु = नमस्कार है।

टीका—यः = वक्ष्यमाणगुणगणः तरुवरः। अन्येषां यत् सुखं तस्य। हेतोः = कारणात्, कुसुमानि = पुष्पाणि च पत्राणि च फलानि च कुसुम-पत्रफलानि तेषामवल्यः = श्रेणयः तासां। भरं = भारं। धत्ते = वहति। घर्मस्य या व्यथा तां घर्मव्यथाम् = आतपकष्टं। शीतेन भवतीति शीतभवा तां = शैत्यजन्यां। रुजम् = आमयं, च वहति = सहते इत्यर्थः। देहं = स्वशरीरं च। अर्पयति = ददाति। परस्मै इन्धनाद्यर्थमित्यर्थः। तस्मै = एवंभूताय। वदान्यानां = दातॄणां गुरुः = शिक्षकः तस्मै, तरवे = वृक्षाय नमः अस्तु।

भावार्थ—जो दूसरोंको सुख देनेके लिये पुष्प, पत्र और फलोंका भार वहन करता है, प्रचण्ड आतप और शीतजन्य रोगों एवं कष्टोंको सहता है, इन्धनादिके निमित्त अपना देह भी अर्पण कर देता है, ऐसे, दाताओंको दातृत्व सिखानेवाले वृक्षराजके लिये नमस्कार है।

टिप्पणी—इस वृक्षान्योक्ति द्वारा कविने परोपकारपरायणको ही सर्वश्रेष्ठ बताया है। वृक्षको वदान्यप्रवर न कहकर वदान्यगुरु कहा है, इससे उक्त गुणोंका गुरुमें समावेश करके अर्थान्तरसे गुरुके लिये भी प्रणति व्यक्त होती है। जिसप्रकार वृक्ष कुसुमपत्रफलभारको वहन करता है वैसे ही गुरु भी अध्ययनरूप श्रम करके विद्याओंका भार वहन करता है। 'वृक्ष आतप एवं शीतजन्य व्यथाओंको सहता है, गुरुभी दुष्टोंके द्वारा दिये गये क्लेशोंको सहन करता है। वृक्ष इन्धनादिरूपसे अपनी देहको दूसरोंके लिये अर्पण करता है, गुरु भी आत्मविद्यारूप सर्वस्वको शिष्योंके लिये उत्सर्ग कर देता है। इसप्रकार समान गुणवत्तया दोनों वन्द्य हैं।

इस पद्यमें प्रणतियोग्य वदान्यगुरुत्वका समर्थन भारवहन, रुजसहन और देहार्पणरूप अर्थसे किया गया है अतः काव्यलिङ्ग अलंकार है। वसन्ततिलका छन्द है ॥ ८९ ॥

हालाहलं खलु पिपासति कौतुकेन
कालानलं परिचुचुम्बिषति प्रकामम् ।
व्यालाधिपञ्च यतते परिरब्धुमद्धा
यो दुर्जनं वशयितुं तनुते मनीषाम् ॥९०॥

अन्वय—यः, दुर्जनं, वशयितुं, मनीषां, तनुते, हालाहलं, कौतुकेन, पिपासति, खलु, कालानलं, प्रकामम्, परिचुचुम्बिषति, अद्धा, व्यालाधिपञ्च, परिरब्धुं, यतते ।

शब्दार्थ—यः = जो । दुर्जनं = दुर्जनको । वशयितुं = वशमें करनेको । मनीषां तनुते = बुद्धि लगाता है । (वह) हालाहलं = भयानक विषको । कौतुकेन = कौतूहलसे जैसे । पिपासति = पीना चाहता है । कालानलं = प्रलयाग्निको । प्रकामम् = अत्यन्त । परिचुचुम्बिषति = चूमनेकी इच्छा करता है । अद्धा = साक्षात् । व्यालाधिपञ्च = सर्पराजको भी । परिरब्धुं = आलिङ्गन करनेके लिये । यतते = चेष्टा करता है ।

टीका—यः = जनः । दुर्जनं = खलं । वशयितुं = वशीकर्तुं । मनीषां = बुद्धिं (बुद्धिर्मनीषा धिषणा—अमरः) तनुते = विस्तारयति । स जनः । हालाहलं = कालकूटाख्यं विषं । कौतुकेन = कुतूहलेन न तु मरणेच्छयेत्यर्थः । पिपासति = पातुमिच्छति । खलु । कालानलं = प्रलयाग्निं नतु सामान्याग्निमिति ध्वन्यते । प्रकामम् = दृढतरं । परिचुचुम्बिषति = परिचुम्बितुमिच्छति । अद्धा = साक्षात्, अव्यवहितं यथा-स्यात्तथा (तत्त्वेत्वद्धाञ्जसा द्वयम्— अमरः) व्यालाधिपं = नागराजं । परिरब्धुम् = आलिङ्गितुं । यतते = प्रयत्नं करोति ।

भावार्थ—जो दुर्जनको वशमें करना चाहता है वह मानो कुतूहलवश हालाहल (विष) पीना चाहता है, प्रलयाग्निको अत्यन्त चुम्बन करना चाहता है और प्रत्यक्ष ही भयानक नागराजको आलिङ्गन करनेका प्रयत्न करता है ।

टिप्पणी—दुर्जनको वशमें करनेकी कल्पना करना ही अपनेको नष्ट करनेकी योजना बनाना है—इस भावको इस पद्य द्वारा व्यक्त किया गया है। इसमें कौतुकेन, प्रकामम् और यतते पद विशेष अर्थ रखते हैं। संसार जानता है कि हालाहल पीनेसे मृत्यु हो जाती है; किन्तु फिर भी अनजाने या किसीके दबावमें आकर नहीं, प्रत्युत कौतुक (उत्कण्ठा)-से पीना चाह रहा है। इसी प्रकार साधारण अग्नि भी छूते ही जला देता है, फिर कालानल (प्रलयाग्नि)-की तो बात ही क्या है? उसे भी वह प्रकाम (अत्यन्त) चुम्बन करना चाहता है और नागराजसे, जो कि पास जाते ही डस देगा, लिपट जानेका प्रयत्न कर रहा है। भला, इतनी बड़ी मूर्खताएँ जो कर सकता है वही समझो कि दुर्जनको वशमें करनेकी सोच सकता है। अन्यथा इस असम्भव कार्यकी कल्पना भी नहीं करनी चाहिये।

इस पद्यमें विष पीना चाहता है, प्रलयाग्निको चुम्बन करना चाहता है और नागराजका आलिंगन करना चाहता है, ये तीनों वाक्य असंभव अर्थके बोधक हैं और विषपानादिकी तरह दुर्जनको वशमें करना भी असंभव है, इस उपमाकी कल्पना करनी पड़ती है अतः मालानिदर्शना अलंकार है। लक्षण—अभवन्वस्तुसंबन्ध उपमापरिकल्पकः (काव्य०)। रसगंगाधरमें भी निदर्शना अलंकारके उदाहरणोंमें ही यह पद्य लिखा गया है। वसन्ततिलका छन्द है॥ ९०॥

दीनानामिह परिहाय शुष्कसस्या-
न्यौदार्यं प्रकटयतो महीधरेषु।
औन्नत्यं विपुलमवाप्य दुर्मदस्य
ज्ञातोऽयं जलधर तावको विवेकः॥९१॥

अन्वय—जलधर! विपुलम्, औन्नत्यम्, अवाप्य, इह,

दीनानां, शुष्कसस्यानि, परिहाय, महीधरेषु, औदार्यं, प्रकटयतः, दुर्मदस्य, तावकः, अयं, विवेकः, ज्ञातः।

शब्दार्थ—जलधर = हे मेघ ! विपुलम् = अत्यन्त । औन्नत्यम् = ऊँचेपनको । अवाप्य = पाकर । दीनानां = गरीबोंके । शुष्कसस्यानि = सूखे धानोंको । परिहाय = छोड़कर । महीधरेषु = पर्वतोंपर । औदार्यं = उदारता । प्रकटयतः = दिखाते हुए । दुर्मदस्य = घमंडी । तावकः = तुम्हारा । अयं = यह । विवेकः = ज्ञान । ज्ञातः = जान लिया ।

टीका—जलधर = मेघ ! विपुलं = प्रचुरम् । औन्नत्यं = महत्त्वमौत्कण्ठ्यं वा अवाप्य = लब्ध्वा । अपि, इह = अत्र, दीनानां = दुर्बलानां कृषीवलानां, शुष्काणि च तानि सस्यानि = जलाभावान्नष्टप्रायाणि धान्यानि, परिहाय = त्यक्त्वा । महीधरेषु = पर्वतशिखरेषु, औदार्यं = वदान्यत्वम् , प्रकटयतः = स्फुटीकुर्वतः । अत एव दुर्मदस्य दुष्टो मदो यस्य तस्य = उन्मत्तस्येत्यर्थः तवायं तावकः = त्वदीयः, अयम् = एष, विवेकः = विचारः, ज्ञातः = विख्यात एवेत्यर्थः (प्रतीते प्रथितख्यातवित्तविज्ञातविश्रुताः—अमरः)।

भावार्थ—हे जलधर ! अत्यन्त उन्नत (ऊँचा या महान्) पदको प्राप्त करके भी दीन किसानोंके सूखते हुए खेतोंको छोड़कर सूने पहाड़ों पर जल वरसानेका तुम्हारा यह उन्मादपूर्ण विवेक प्रसिद्ध ही है ।

टिप्पणी—इसी भावको कुछ रूपान्तरसे पहिले कह चुके हैं ।

(दे० श्लोक ३४)

जैसे मेघ पहाड़ोंपर तो व्यर्थ वरसता है, किन्तु जो किसान उसकी ओर आशा लगाए रहते हैं उन्हें निराश कर देता है । मेघकी इस अन्योक्ति द्वारा कवि किसी अविवेकी धनिकको फटकार वताता है—हे धनमदान्ध ! जो दीन याचक हैं उन्हें तो तुम कुछ देते नहीं, जिन्हें आवश्यकता ही नहीं है उनके लिये उदारता दिखाते हो । तुम्हारी यह

निर्विवेकिता स्पष्ट ही है। अप्रस्तुत जलधरके वृत्तान्तसे यहाँ प्रस्तुत किसी धनिकके वृत्तान्तकी प्रतीति होती है अतः अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार है। पंडितराजने रसगंगाधरमें इसे अर्थान्तरन्यासका उदाहरण कहा है। किन्तु वहाँका पाठ इस प्रकार है—

दीनानामथ परिहाय शुष्कसस्यान्यौदार्यं वहति पयोधरो हिमाद्रौ।
औन्नत्यं विपुलमवाप्य दुर्मदानां ज्ञातोऽयं क्षितिप भवादृशां विवेकः॥

यह प्रहर्षिणी छन्द है। लक्षण—म्नौज्रौगस्त्रिदशयतिः प्रहर्षिणीयम्। (वृत्त०)॥ ९१॥

गिरयो गुरवस्तेभ्योऽप्युर्वी गुर्वी ततोऽपि जगदण्डम्।
तस्मादप्यतिगुरवः प्रलयेऽप्यचला महात्मानः॥९२॥

अन्वय—गिरयः, गुरवः, तेभ्यः, अपि, उर्वी, गुर्वी, ततः, अपि, जगदण्डम्, तस्मादपि, अतिगुरवः, प्रलये, अपि, अचलाः, महात्मानः।

शब्दार्थ—गिरयः = पहाड़। गुरवः = महान् हैं। तेभ्यः अपि = उनसे भी। उर्वी = पृथ्वी। गुर्वी = गुरु (विशाल) है। ततः = उससे भी। जगदण्डं = ब्रह्माण्ड (महान् हैं)। तस्मात् अपि = उससे भी। अतिगुरवः = अत्यन्त महान्। प्रलयेऽपि = प्रलयकालमें भी। अचलाः = स्थिर रहनेवाले। महात्मानः = महात्मा लोग हैं।

टीका—गिरयः = पर्वताः। गुरवः = महान्तः, भवन्ति। तेभ्यः = गिरिभ्यः। अपि। उर्वी = पृथ्वी। गुर्वी = महत्तरा। भवति। ततः = पृथिवीतः। अपि। गुरुरितिशेषः। जगदण्डं = ब्रह्माण्डमिति यावत्। सर्वाधारत्वात्। किन्तु। प्रलये = विक्षोभकालेऽपि। अचलाः = स्थिराः क्षोभशून्या इत्यर्थः। महात्मानः = सज्जनाः। तस्मादपि = ब्रह्माण्डादपीत्यर्थः। अतिशयेन गुरवः = गौरवयुताः भवन्ति।

भावार्थ—पर्वत गुरु (भारी या महान्) हैं, पृथ्वी पर्वतोंसे भी अधिक गुर्वी है (क्योंकि वह पर्वतोंको भी धारण करती है।) उससे भी ब्रह्माण्ड अधिक गुरु है (क्योंकि पृथ्वीको भी ब्रह्माण्ड धारण करता है)। किन्तु महात्माजन तो उस ब्रह्माण्डसे भी अत्यन्त ही गुरु हैं जो विप्लव कालमें भी अडिग रहते हैं।

टिप्पणी—इस पद्यमें सर्वाधिक गुरुत्व प्रदानकर महात्माओंकी महनीयताका स्तवन किया है। उनकी निश्चलताके विषयमें योगवासिष्ठका यह श्लोक भी मननीय है—

विचारदर्पणे लग्नां धियं धैर्यधुरं गताम्।
आधयो नावलुम्पन्ति वाताश्चित्रानलं यथा॥

उत्तरोत्तर पदार्थोंकी श्रेष्ठताका वर्णन होनेसे यह सार अलंकार है। लक्षण—"उत्तरोत्तरमुत्कर्षः सार इत्यभिधीयते" (कुवलया०)। आर्या छन्द है ॥९२॥

व्योमनि वासं कुरुते चित्रं निर्माति यत्नतः सलिले।
स्नपयति पवनं सलिलैर्यः क्षुद्रे चरति सत्कारम्॥९३॥

अन्वय—यः, क्षुद्रे, सत्कारं चरति, स, व्योमनि, वासं, कुरुते, सलिले, यत्नतः, चित्रं, निर्माति, पवनं, सलिलैः, स्नपयति।

शब्दार्थ—यः = जो। क्षुद्रे = नीच व्यक्तिके प्रति। सत्कारं चरति = अच्छा आचरण करता है (क्षुद्रका जो आदर करता है)। सः = वह। व्योमनि = आकाशमें। वासं कुरुते = महल बनाता है। सलिले = पानीमें। यत्नतः = प्रयत्नपूर्वक। चित्रं निर्माति = चित्रकारी करता है। पवनं = वायुको। सलिलैः = जलोंसे। स्नपयति = स्नान कराता है।

टीका—यः = जनः। क्षुद्रे = अल्पे जने, सत्करणं सत्कारः तं सत्कारं = आदरं, चरति = करोति। स व्योमनि = आकाशे। वासं

कुरुते = शून्ये गृहं निर्मातीत्यर्थः। सलिले = जले। यत्नतः = प्रयत्न-पूर्वकं। चित्रम् = आलेख्यं। निर्माति = रचयति। तथा। पवनं = वायुं। सलिलैः = जलैः, स्नपयति = स्नानं कारयति। यथा एतत्सर्वं व्योम-वासाद्यसंभवं तथैव खलजनस्य सज्जनीकरणमप्यसंभवम्।

भावार्थ—जो क्षुद्र (खल) जनको सज्जन वनाना चाहता है वह मानो आकाशमें महल वनाना चाहता है, जलमें रेखा खींचकर चित्र वनाता है और वायुको जलसे स्नान कराता है।

टिप्पणी—जिसका जैसा स्वभाव पड़ जाता है उसे बदलना असंभव है, विशेषकर खलजनोंका। वे पहिले तो प्रसन्न ही नहीं होते, यदि किसी प्रकार प्रसन्न हो भी गये तो उनकी वह प्रसन्नता भी हानिकारक ही होती है—'अव्यवस्थितचित्तानां प्रसादोऽपि भयंकरः'। इसलिये जैसे आकाशमें महल वनाना, जलमें रेखा खींचकर चित्र वनाना और वायुको स्नान कराना असंभव है, ऐसे ही खलको सज्जन वनाना या उसे सन्तुष्ट रखना भी असंभव ही है। यही पद्यका तात्पर्य है। रसगंगाधरमें यह पद्य निदर्शना अलंकारके उदाहरणोंमें रक्खा है। आर्या छन्द है ॥९३॥

हारं वक्षसि केनापि दत्तमज्ञेन मर्कटः।
लेढि जिघ्रति संक्षिप्य करोत्युन्नतमासनम् ॥९४॥

अन्वय—मर्कटः, केन, अपि, अज्ञेन, वक्षसि, दत्तं, हारं, लेढि, जिघ्रति, संक्षिप्य, च, आसनम्, उन्नतं, करोति।

शब्दार्थ—मर्कटः = वन्दर। केनापि अज्ञेन = किसी भी मूर्ख द्वारा। वक्षसि दत्तं = पहिनाये हुए। हारं = हारको। लेढि = चाटता है। जिघ्रति = सूँघता है। संक्षिप्य च = और मोड़कर। आसनम् = आसनको। उन्नतं करोति = ऊँचा कर लेता है। (अर्थात् उसपर वैठ जाता है)।

टीका—मर्कटः = कपिः। केनापि। अज्ञेन = मूर्खेण, विवेकरहिते-नेतियावत्। वक्षसि = उरसि, दत्तम् = अर्पितम्, हारं = मुक्तावलीं

(हारो मुक्तावली देवच्छन्दोऽसौ–अमरः) लेढि = आस्वादयति, जिघ्रति = नासिकया तदाघ्राणं करोति। अनन्तरं। संक्षिप्य = सूत्रान्निष्कासनेन राशीकृत्य। स्वकीयम् आसनम् = आधारम्। उन्नतम् = उच्चतरं। करोति। तदुपरि उपविष्ट स्वमुच्चासनस्थं मनुते इत्यर्थः।

भावार्थ—वन्दर किसी मूर्ख द्वारा गलेमें पहिनाये हुए मुक्ताहारको पहिले चाटता है फिर सूँघता है और तब एक-एक करके निकालता हुआ ढेर बनाकर गद्दी ऊँची बना लेता है।

टिप्पणी—सज्जन ही सद्वस्तुका आदर करना जानते हैं, मूर्खके पास यदि उत्तम वस्तु जायगी तो वह उसका आदर तो क्या, उलटे उसे नष्ट कर डालेगा, इसी भावको लेकर इस पद्यकी रचना हुई है। मूर्ख तो विवेकशून्य होता ही है किन्तु उसका भी सज्जनके समान आदर करनेवाला और भी विवेकशून्य है। ऐसे ही किसी अज्ञने वन्दरके गलेमें मोतियोंका हार पहिना दिया। वह न तो उसके गुणको समझ सकता है न मूल्यको। खाद्य पदार्थ समझकर वह पहिले उसे चाटता है, कुछ रस न मिला तो पशु-स्वभावके कारण सूँघता है, जब गन्ध भी न मिली तो एक-एक करके समेट कर ढेर बनाता है और उस पर बैठकर ऊँचे में बैठनेका अनुभव करता है।

वन्दर-स्वभावकी चञ्चलताका स्वाभाविक वर्णन होनेसे स्वभावोक्ति अलंकार है। पंडितराजने रसगंगाधरमें इसे अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकारके उदाहरणोंमें रक्खा है और कहा है--यहाँ अप्रस्तुत मर्कटवृत्तान्तसे प्रस्तुत–मूर्खोंको बहुमूल्य वस्तु देना वस्तुको नष्ट करना है—इस सामान्यकी प्रतीति होती है। अनुष्टुप् छन्द है ॥९४॥

मलिनेऽपि रागपूर्णां विकसितवदनामनल्पजल्पेऽपि
त्वयि चपलेऽपि च सरसां भ्रमर कथं वा सरोजिनीं त्यजसि ९५

अन्वय—भ्रमर ! त्वयि, मलिने, अपि, रागपूर्णां, अनल्पजल्पे, अपि, विकसितवदनां, चपले, अपि, च, सरसां, सरोजिनीं, कथं, वा त्यजसि।

शब्दार्थ—भ्रमर = हे भौंरे ! त्वयि = तुम्हारे। मलिनेऽपि = काला या कपटी होनेपर भी। रागपूर्णां = अनुरागसे भरी हुई। अनल्पजल्पेऽपि = बहुत बोलनेवाला होनेपर भी। विकसितवदनां = खिले हुए (प्रसन्न) मुखवाली। चपलेऽपि = (तुम्हारे) चञ्चल होनेपर भी। सरसां = सरस (रसपूर्ण) हृदयवाली। सरोजिनीं = कमलिनीको। कथं वा = क्योंकर। त्यजसि = छोड़ते हो।

टीका—हे भ्रमर = चञ्चरीक ! त्वयि। मलिने = कृष्णवर्णे अपि। रागेण = अनुरागेण, पूर्णां = भरितां। अनल्पं = अत्यन्तं जल्पति = वदतीति तस्मिन् एवंभूतेऽपि। विकसितं वदनं यस्याः सा तां = प्रफुल्लाननां। चपले = चञ्चले अपि। सरसां = रसवतीम्। एवंभूतां। सरोजिनीं = कमलिनीं। कथं वा = कथमिव। केनापराधेनेतिभावः। त्यजसि = जहासि।

भावार्थ—हे भ्रमर ! तुम मलिन हो तो भी जो तुमपर पूर्ण अनुराग रखती है, तुम अत्यन्त बोलते हो फिर भी प्रसन्नमुख रहती है, तुम चञ्चल हो तो भी जो सरस रहती है, ऐसी सरोजिनीको भला, तुम किस कारणसे त्याग रहे हो।

टिप्पणी—भौंरा मलिन (काला) है फिर भी कमलिनी रागपूर्ण (रंगीन) रहती है। भौंरा बड़बड़ाता (गुनगुनाता) रहता है और कमलिनी खिली रहती है। भौंरा चपल (चञ्चल = इधर-उधर घूमता) रहता है कमलिनी रससे भरी रहती है। ऐसी कमलिनीको हे भ्रमर तुम क्यों छोड़ देते हो ? भ्रमर और कमलिनीके इस व्यवहारसे किसी ऐसे नायक-नायिकाके व्यवहारकी कल्पना होती है जिसमें नायक मलिन (मैले चित्तवाला = कपटी) है फिर भी नायिका उसपर अनुराग रखती

है। नायक वहुत वड़वड़ाता रहता है तव भी नायिका हँसमुख रहती है। नायक अत्यन्त चपल है फिर भी वह रसीली वनी रहती है (रुष्ट नहीं होती)। इसलिये हमारे विचारसे यह समसोक्ति अलंकार है। किन्तु पंडितराजने रसगंगाधरमें इसे अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकारके उदाहरणमें ही रक्खा है। उनका कहना है कि इसमें अप्रस्तुत भ्रमरके व्यवहारसे प्रस्तुत नायिकाके वृत्तान्तकी प्रतीति होती है। गीति छन्द है। लक्षण देखिये श्लोक १३ ॥९५॥

स्वार्थं धनानि धनिकात्प्रतिगृह्णतोऽपि
स्वास्यं भजेन्मलिनतां किमिदं विचित्रम्।
गृह्णन्परार्थमपि वारिनिधेः पयोऽपि
मेघोऽयमेति सकलोऽपि च कालिमानम् ॥९६॥

अन्वय—धनिकात्, स्वार्थम्, अपि, धनानि, प्रतिगृह्णतः, स्वास्यं, मलिनतां भजेत्, इदं, किं, विचित्रम्, वारिनिधेः, परार्थम् अपि, पयः, गृह्णन्, अयं, मेघः, सकलः, अपि, कालिमानम्, एति।

शब्दार्थ—धनिकात् = धनवान्से। स्वार्थं = अपने लिये। धनानि = धनोंको। प्रतिगृह्णतः अपि = लेनेवालेका भी। स्वास्यं = अपना मुख। मलिनतां = म्लानताको। भजेत् चेत् = प्राप्त होता है तो। इदं किं विचित्रम् = यह कौन आश्चर्य है। (जवकि) वारिनिधेः = समुद्रसे। परार्थं = दूसरोंके लिये ही। पयः = जलोंको। गृह्णन् = लेता हुआ। मेघः = वादल। सकलः अपि = सारा ही। कालिमानम् = श्यामलताको। एति = प्राप्त होता है।

टीका—धनानि सन्त्यस्यासौ धनिकः = धनवान् तस्मात्। स्वस्मै इदं स्वार्थं = स्वहितायेत्यर्थः। धनानि = वित्तादीनि प्रतिगृह्णतः = याचमानस्य स्वीकुर्वतो वा। स्वं = स्वकीयं च तदास्यं = मुखं च। मलि-

नतां = म्लानत्वं । भजेत् = श्रयेत चेत् । तर्हि । इदं । विचित्रं = विलक्षणं । किम् । अत्र न किमप्याश्चर्यहेतुरिति भावः । यतः । वारि- निधेः = समुद्रसकाशात् । परस्मै इदं दरार्थं = भूमौ वर्षणार्थं । अपि । पयः = जलं । गृह्णन् = स्वीकुर्वन् । अयं = प्रत्यक्षः । मेघः = जलदः । सकलः = सम्पूर्णः । अपि । (एतेन तस्य जलपूर्णत्वं ध्वन्यते) कालि- मानं = कार्ण्यं कृष्णवर्णत्वमिति यावत् । एति = गच्छति ।

भावार्थ—अपने स्वार्थके लिये धनवान्से धनकी याचना करनेवाले व्यक्तिका मुख मलिन हो जाय तो इसमें आश्चर्य क्या ? जबकि दूसरोंपर बरसानेके लिये समुद्रसे जल ग्रहण करता हुआ भी यह मेघ सम्पूर्ण ही काला हो जाता है ।

टिप्पणी—याचना करना सबसे गर्हित कर्म है। इससे मनुष्यका आत्मबल नष्ट हो जाता है और उसका स्वाभिमान कुचल जाता है ।

तुलना०—तृणाल्लघुतरस्तूलस्तूलादपि च याचकः ।
वायुना किं न नीतोऽसौ मामयं याचयेदिति ॥

इसी भावको इस अन्योक्ति द्वारा व्यक्त किया है। जबकि दूसरोंपर बरसानेके निमित्त भी, समुद्रसे केवल जलयाचना करनेवाला मेघ, सम्पूर्ण काला हो जाता है, तो अपने व्यक्तिगत स्वार्थके लिये धन-याचना करनेवालेका मुख ही म्लान हुआ तो इसमें आश्चर्यकी कौनसी बात है। 'प्रतिगृह्णतः' पदसे स्पष्ट है कि दाता उसे स्वेच्छासे देता है और याचक स्वेच्छासे स्वीकार करता है। तब भी उसकी मुखाकृति अहसानके भारसे मलिन हो जाती है। यदि चोरी आदिसे लेता तब तो पूछना ही क्या था ?

इसमें पूर्वार्धगत सामान्य उक्तिका उत्तरार्धगत मेघकी विशेष उक्तिसे समर्थन किया गया है, अतः अर्थान्तरन्यास अलंकार है। लक्षण—

सामान्यं वा विशेषेण तदन्येन समर्थ्यते ।
ज्ञेयः सोऽर्थान्तरन्यासः साधर्म्येणेतरेण वा ॥ (काव्य०)

वसन्ततिलका छन्द है ॥९६॥

जनकः स्थाणुविशेषो जातिः काष्ठं भुजङ्गमैः सङ्गः।
स्वगुणैरेव पटीरज यातोऽसि तथापि महिमानम् ॥९७॥

अन्वय—हे पटीरज! जनकः, स्थाणुविशेषः, जातिः, काष्ठं, भुजङ्गमैः, सङ्गः, तथापि, स्वगुणैः, एव, महिमानं, यातः, असि।

शब्दार्थ—पटीरज = हे चन्दन! (तुम्हारा) जनकः = पिता। स्थाणुविशेषः = (मलय पर्वत होनेसे) जड़ ही है। जातिः = कुल। काष्ठं = लकड़ी है। सङ्गः = साथ। भुजङ्गमैः = सर्पोंका है। तथापि = तो भी। स्वगुणैः एव = अपने सद्गुणोंसे ही। महिमानं = महत्त्वको। यातोऽसि = प्राप्त हुए हो।

टीका—पटीराज्जातः पटीरजः तत्सम्बुद्धौ हे पटीरज = हे मलयज! चन्दनेत्यर्थः। तव इति सर्वत्र सम्बन्धः। जनकः = उत्पादकः। स्थाणुविशेषः = स्थिरत्वेनोपलक्षितः पर्वतविशेष इत्यर्थः। एतेन विशेषणेन जडत्वं सूचितम्। जातिः = कुलं, काष्ठ। सङ्गः = सहवासः। भुजङ्गमैः = सर्पैः। खलैरित्यपि ध्वन्यते। तथापि = एवंभूतोऽपि। कुलजातिसङ्गसौष्ठवरहितोऽपीत्यर्थः। त्वम् इति शेषः। स्वस्य गुणैः = निजसौरभ्यशीतलत्वादिभिर्धर्मविशेषैः। एव। महिमानं = औत्कट्यम्। यातः = प्राप्तः असि। यतः देवैरपि सादरं मूर्ध्नि धार्यसे इतिभावः।

भावार्थ—हे चन्दन! एक जड़ पदार्थ मलयाचल पहाड़पर तुम उत्पन्न हुए हो, अन्य काष्ठोंकी तरह एक काष्ठ तुम भी हो, प्रतिक्षण भुजङ्गोंसे घिरे रहते हो, फिर भी अपने महान् गुणोंसे तुम इतनी प्रतिष्ठा प्राप्त कर लिये हो।

टिप्पणी—चन्दनके प्रति उक्त इस अन्योक्तिसे कविने यह भाव व्यक्त किया है कि किसी व्यक्तिकी प्रतिष्ठाको बढ़ानेमें उसके पूर्वज, वंश या सङ्गतिका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। केवल स्वकीय विशिष्ट

गुण ही उसकी महत्ताको जगद्विश्रुत कर देते हैं। सामान्य पहाड़ोंकी भाँति मलयाचल भी एक पहाड़ है, जहाँ चन्दन उत्पन्न होता है। अन्य लकड़ियोंकी तरह वह भी एक लकड़ी ही है, भयंकर सर्पोंसे प्रति-क्षण घिरा रहता है, फिर भी उसकी चाह देवताओं तकको रहती है। मलयाचलमें उत्पत्ति आदि कोई भी उसकी इस महनीयतामें कारण नहीं है। केवल अनुपम सुगन्ध, अतिशय शीतलता आदि उसके स्वकीय गुणोंने ही उसे इस प्रतिष्ठाके योग्य बनाया है। इस पद्यसे यह भी ध्वनित होता है कि भाग्यसे नहीं पुरुषार्थसे ही मनुष्य महत्ताको प्राप्त करता है। क्योंकि अच्छे या बुरे घर या वंशमें उत्पत्ति और अच्छी या बुरी संगति तो भाग्यसे पूर्व कर्मानुसार मिलती है, किन्तु मनुष्य अपने उत्कट पुरुषार्थसे बड़ीसे बड़ी प्रतिष्ठा प्राप्त कर लेता है।

तुलना०—सूतो वा सूतपुत्रो वा यो वा को वा भवाम्यहम्।
दैवायत्तं कुले जन्म ममायत्तं तु पौरुषम्॥

अथवा—अतिरिच्यते सुजन्मा कश्चिज्जनकान्निजेन चरितेन।
कुम्भः परिमितमम्भः पिबति पुनः कुम्भसंभवोऽम्भोधिम्॥

उक्त पद्यमें भी अप्रस्तुतप्रसंशा अलंकार है; क्योंकि अप्रस्तुत चन्दनके वर्णनसे प्रस्तुत किसी पुरुषार्थी प्रसिद्ध गुणवान्‌की प्रतीति होती है। आर्या छन्द है॥९७॥

कस्मै हन्त फलाय सज्जन गुणग्रामार्जने सज्जसि
स्वात्मोपस्करणाय चेन्मम वचः पथ्यं समाकर्णय।
ये भावा हृदयं हरन्ति नितरां शोभाभरैः संभृता-
स्तैरेवास्य कलेः कलेवरपुषो दैनंदिनं वर्तनम्॥९८॥

अन्वय—सज्जन! हन्त, कस्मै, फलाय, गुणग्रामार्जने, सज्जसि, चेत्, स्वात्मोपस्करणाय, मम, पथ्यं, वचः, समाकर्णय, नितरां,

शोभाभरैः, संभृताः, ये, भावाः, हृदयं, हरन्ति, तैः, एव, कलेवरपुषः, अस्य, कलेः, दैनदिनं, वर्तनम् ।

शब्दार्थ—सज्जन = हे सज्जन ! हन्त = खेद है कि । कस्मै फलाय = क्या पानेके लिये । गुणग्रामार्जने = गुणोंके समूहको इकट्ठा करनेमें । सज्जसि = लगे हो । चेत् = यदि । स्वात्मोपस्करणाय = अपनी आत्माको (गुणों से) अलंकृत करनेके लिये (लगे हो तो) । मम = मेरे । पथ्यं वचः = हितकर वचनोंको । समाकर्णय = सुन लो । नितरां = निरन्तर । शोभाभरैः = शोभाओंके भारसे । संभृताः = भरे हुए । ये भावाः = जो पदार्थ । हृदयं हरन्ति = चित्तको हरनेवाले (मनोहर = रमणीय) हैं । तैः एव = उनसे ही । कलेवरपुषः = अपने देहको पुष्ट करने-वाले । अस्य कलेः = इस कलियुगका । दैनदिनं = प्रतिदिनका । वर्तनम् = वृत्ति (आजीविका) है ।

टीका—सज्जन = सुपुरुष ! हन्त = खेदमित्यर्थः । कस्मै फलाय = प्रयोजनाय । गुणानां = वाग्मित्वादिचारुधर्माणां ग्रामः = समूहः (शब्दा-पूर्वो वृन्देऽपि ग्रामः—अमरः) तस्य अर्जने = सम्पादने, सज्जसि = संसक्तो भवसि । स्वात्मोपस्करणाय स्वस्य = निजस्य आत्मनः = अन्तः-करणादेः उपस्करणं = संस्कारः तस्मै । चेत् = यदि । सज्जसीति शेषः । तर्हि । मम = मदुक्तं, पथ्यं = हितं । ('पथ्यं हिते पत्थ्या हरीतकी'—इति हैमः) वचः = वाक्यं । समाकर्णय = अवधानतया शृणु इति भावः । नितराम् = अत्यन्तं, शोभाभरैः = सुषमासमूहैः संभृताः = परिपुष्टाः । सन्तः । ये भावाः = विद्यमानपदार्थाः, हृदयं = चित्तं । हरन्ति = वशीकुर्वन्ति । तैः = एवंभूतरम्यपदार्थैः । एव । कलेवरं = शरीरं ('कलेवरं । गात्रं वपुः संहननं शरीरं वर्ष्म विग्रहम्' इत्यमरः) पुष्णाति = पुष्टं करोतीति एवंभूतस्य । अस्य = प्रत्यक्षस्येतिभावः । कलेः = कलियुगस्य वर्तमानकालस्येति यावत् । दैनन्दिनं = दिने दिने भवं प्रतिदिनसंभवि ।

वर्तनम् = वृत्तिः आजीविकेति भावः। अस्ति इति शेषः। येऽत्यन्तं रमणीयाः पदार्थाः सन्ति तानेवायं नाशयतीति भावः।

भावार्थ—हे सत्पुरुष! खेद है कि आखिर किस उद्देश्यसे तुम इन सद्गुणोंके संग्रहमें प्रवृत्त हो? यदि अपने अन्तःकरणादिकी शुद्धिद्वारा यश आदिकी कामनासे इसमें लगे हो, तो मेरा हितकर वचन सुन लो—इस संसारमें जो पदार्थ अत्यन्त शोभाशाली रमणीय होनेसे सबको मनोहर प्रतीत होते हैं, प्रतिदिन उन्हींको खा-खाकर यह दुष्ट कलियुग अपने शरीरको पुष्ट करता है।

टिप्पणी—इस कलियुगमें गुणवानोंका आदर नहीं होता। सुन्दर पदार्थ ही प्रायः शीघ्र नष्ट हो जाते हैं, यह समयका ही फेर है। इसमें किसीका दोष नहीं। यही इस श्लोकका भाव है। इसको रसगंगाधरमें पर्यायोक्त अलंकार माना है। पण्डितराजका कथन है—यहाँ यद्यपि "रमणीय पदार्थोंको कलियुग खा जाता है" इस कविप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तुसे "यदि मरना चाहते हो तो गुणवान् बननेका प्रयत्न करो" यह वस्तु व्यङ्ग्यत्वेन प्रतीत होती है, तो भी वाच्य अर्थकी अपेक्षा व्यङ्ग्य अर्थमें सुन्दरता न होनेसे वह गौण हो गया है। जिन अलंकारोंके वाच्यार्थमें ही सौंदर्य होता है वे प्रायः अपने अन्तर्गत प्रतीयमान अर्थको पछाड़ देते हैं। इसलिये यहाँ पर्यायोक्त ही अलंकार है। लक्षण—विवक्षितार्थस्य भङ्ग्यन्तरेण प्रतिपादनं पर्यायोक्तम् (रसगंगा०) यहाँ "मरना चाहते हो तो गुणवान् बननेकी चेष्टा करो" यही कविका विवक्षित व्यङ्ग्यार्थ है जिसको दूसरे प्रकारसे कहा गया है। शार्दूलविक्रीडित छन्द है ॥९८॥

धूमायिता दशदिशो दलितारविन्दा
देहं दहन्ति दहना इव गन्धवाहाः।

त्वामन्तरेण मृदुताम्रदलाम्रमञ्जु-
गुञ्जन्मधुव्रतमधो किल कोकिलस्य ॥६९॥

अन्वय—मृदुताम्रदलाम्रमञ्जुगुञ्जन्मधुव्रत, मधो, त्वाम्, अन्तरेण, कोकिलस्य, दलितारविन्दाः, दश दिशः, धूमायिताः, गन्धवाहाः, दहनाः इव, देहं, दहन्ति, किल।

शब्दार्थ—मृदुताम्रदलाम्र = कोमल लाल-लाल कलियोंवाले आममें, मञ्जुगुञ्जन्मधुव्रत = मधुर-मधुर गूँज रहे हैं भौंरे जिसमें ऐसे। मधो = हे वसन्त! त्वामन्तरेण = तुम्हारे विना। कोकिलस्य = कोकिलके लिये। दलितारविन्दाः = खिले कमलोंवाली (भी)। दशदिशः = दशों दिशाएँ। धूमायिताः = धूँएसे भरी सी हैं। (और) गन्धवाहाः = वायु। दहना इव = अग्नियोंकी तरह। देहं = शरीरको। दहन्ति = झुलसा रहे हैं।

टीका—मृदूनि = कोमलानि, ताम्राणि = रक्तानि, दलानि = पर्णानि यस्य सः, एवंभूतः यः आम्रः = रसालः, तस्मिन् मञ्जु = मधुरं यथास्यात्तथा गुञ्जन्तः = गुञ्जारवं कुर्वन्तः मधुव्रताः = भ्रमराः यस्मिन् सः, तत्सम्बुद्धौ, मधो = हे वसन्त! त्वाम् = मधुं। अन्तरेण = विना। कोकिलस्य = परभृतस्य (वनप्रियः परभृतः कोकिलः पिक इत्यपि—अमरः) दलितानि = विकसितानि सुन्दराणि अरविन्दानि = महोत्पलानि यासु ताः। एवंभूताः। दश = दशसंख्याकाः दिशः = आशाः (दिशस्तु ककुभः काष्ठा आशाश्च हरितश्च ताः—इत्यमरः)। धूम इवाचरिताः धूमायिताः = सधूमा इव संजाता इत्यर्थः। गन्धवाहाः = अनिलाः (पृषदश्वो गन्धवहो गन्धवाहानिलाशुगाः—अमरः) सुगंधितवायवः इति भावः। दहना इव = अग्नय इव ('अग्निर्वैश्वानरो वह्निर्दहनो हव्यवाहनः—अमरः) देहं = गात्रं। दहन्ति = भस्मीकुर्वन्ति, किल इति निश्चयेन।

भावार्थ—कोमल लाल-लाल मञ्जरियोंके समूहको धारण करनेवाले आम्रवृक्षोंपर मधुर गुंजार करते हुए भ्रमर जिसमें मंडरा रहे हों ऐसे, हे वसन्त ! तुम्हारे विना, कोकिलके लिये तो विकसित कमलोंसे रमणीय भी दशों दिशायें धुँएसे भरी जैसी लग रही हैं और यह मलय-सुरभि-पूर्ण वायु अग्निकी भाँति देहको झुलसा रही है।

टिप्पणी—चारों ओर कमल खिल रहे हैं, फिर भी कोयलको दशों दिशाओंमें कुहरा सा छाया प्रतीत होता है। सुगन्धयुक्त वायु भी उसके शरीरको अग्निकी तरह झुलसा रही है। क्योंकि उसे तो आनन्द तभी आयेगा जबकि कोमल लाल-लाल आमके किसलयोंपर मंजरियोंका रस लेनेके लिये भौंरे गूँजने लगेंगे और वसन्त ऋतु आ जायगी। वसन्तके सिवा उसकी कुहू-कुहू अन्यत्र कभी नहीं सुनाई देगी। भलेही दुनियाँमें सर्वत्र आनन्द छाया हो। खिले कमल या सुगन्धित वायु सभीको आनन्द देती है पर कोयलको तो वसन्तमें भौंरोंकी गुंजारसे ही आनन्द आयेगा।

तुलना०—दधि मधुरं मधु मधुरं द्राक्षा मधुरा सिता तु मधुरैव।
तस्य तदेव हि मधुरं यस्य मनो वाति यत्र संलग्नम् ॥

कोयलकी इस अन्योक्तिसे प्रतीत होता है कि प्रियजनके विरहमें सुन्दर वस्तुएँ भी सन्तापदायक ही होती हैं। यहाँ पूर्वार्धमें उपमा अलंकार है और उत्तरार्धमें अप्रस्तुतप्रशंसा। अतः दोनोंकी संसृष्टि है। वसन्ततिलका छन्द है ॥९९॥

भिन्ना महागिरिशिलाः करजाग्रजाग्र-
दुद्दामशौर्यनिकरैः करटिभ्रमेण।
दैवे पराचि करिणामरिणा तथापि
कुत्रापि नापि खलु हा पिशितस्य लेशः ॥१००॥

अन्वय—करिणाम्, अरिणा, दैवे, पराचि, करटिभ्रमेण, करजाग्रजाग्रदुद्दामशौर्यनिकरैः, महागिरिशिलाः, भिन्नाः, तथापि, हा कुत्रापि, पिशितस्य, लेशः, न आपि, खलु।

शब्दार्थ—करिणाम् = हाथियोंके । अरिणा = शत्रु (सिंह) ने। करटिभ्रमेण = गजेन्द्रके भ्रमसे। करजाग्र = नखोंके अग्रभागसे, जाग्रत् = प्रकट होते हुए जो, उद्दाम = प्रचंड, शौर्यनिकर = विक्रमसमूह, उनसे। महागिरिशिलाः = बड़े-बड़े पहाड़ोंकी चट्टानें। भिन्नाः = फाड़ डालीं। (किन्तु) दैवे पराचि = भाग्य पराङ्मुख (विपरीत) होनेसे। तथापि = तब भी। हा = खेद है कि। कुत्रापि = कहीं भी। पिशितस्य = मांसका। लेशः = टुकड़ा। न आपि खलु = नहीं पाया।

टीका—करिणाम् = गजानाम्। अरिणा = शत्रुणा। सिंहेनेत्यर्थः। दैवे = भाग्ये। (दैवं दिष्टं भागधेयं भाग्यं स्त्री नियतिर्विधिः—अमरः)। पराचि = पराङ्मुखे सति। करटः = गजगण्डः (काकेभगण्डौ करटौ—इत्यमरः, करटः करिगण्डे स्यात्कुसुम्भे निन्द्यजीवने—इति हैमश्च) स अस्यास्तीति करटी = करटाख्यगण्डपिण्डद्वयशाली गजेन्द्रः, तस्य भ्रमेण = स्थूलनीलत्वादिसादृश्येन, गजभ्रान्त्येत्यर्थः। करजाग्र······निकरैः, करजानां = नखानां यानि अग्राणि = पुरोभागास्तेषां ये जाग्रन्तः = अतन्द्राः। उद्दामाः = उत्कटाश्च शौर्यनिकराः = वीर्यसमूहाः। महान्तः = विशालाः ये गिरयः = पर्वताः तेषां। शिलाः = पाषाणाः (पाषाणप्रस्तरग्रावोपलाश्मानः शिला दृषत्—अमरः)। भिन्नाः = विदारिताः। किन्तु। हा = इति खेदे। तथापि = परिश्रमपूर्वकविदारणेऽपि। कुत्रापि = स्थले भागे वा। पिशितस्य = मांसस्य (पिशितं तरसं मांसम्—अमरः) लेशः = स्वल्पांशः। न आपि खलु = नैव लब्ध इति भावः।

भावार्थ—बड़े-बड़े गजेन्द्रोंके गण्डस्थलोंको विदीर्ण करनेवाले सिंहने ऐसे समयमें, जबकि भाग्य साथ नहीं दे रहा था, हाथी समझकर

बड़ी-बड़ी पर्वतशिलाओंको अपने नखाग्रोंके उत्कट पराक्रमसे फाड़ डाला। किन्तु खेद है कि उसे (भाग्यकी विमुखताके कारण) कहीं मांसका लेश भी नहीं प्राप्त हुआ।

टिप्पणी—मनुष्य कितना ही परिश्रम करे; किन्तु यदि भाग्य अनुकूल नहीं होता तो सारा श्रम व्यर्थ जाता है। यही इस अन्योक्तिका भाव है। सिंहने हाथी समझकर बड़े-बड़े पत्थरोंको फाड़ डाला किन्तु एक टुकड़ा भी मांसका न पा सका क्योंकि भाग्य अनुकूल नहीं था।

यहाँ पूर्वार्द्धमें स्पष्ट ही भ्रान्तिमान् अलंकार है और उत्तरार्द्धमें मांसका एक टुकड़ा भी न मिलने रूप अर्थका भाग्यकी प्रतिकूलता रूप अर्थसे समर्थन होनेसे काव्यलिंग अलंकार है, अतः दोनोंकी संसृष्टि है। वसन्ततिलका छन्द है ॥ १०० ॥

गर्जितमाकर्ण्य मनागङ्के मातुर्निशार्धजातोऽपि।
हरिशिशुरुत्पतितुं द्रागङ्गान्याकुञ्च्य लीयतेऽतिभृशम् ॥१०१॥

॥ इति श्री पण्डितराजजगन्नाथनिर्मिते भामिनीविलासे प्रास्ताविकः अन्योक्तिविलासः ॥

अन्वय—निशार्धजातः, अपि, हरिशिशुः, मनाक्, गर्जितम्, आकर्ण्य, मातुः, अङ्के, द्राक्, उत्पतितुं, अङ्गानि, अतिभृशम्, आकुञ्च्य, लीयते।

शब्दार्थ—निशार्धजातः अपि = अर्द्धरात्रिमें उत्पन्न हुआ भी। हरिशिशुः = सिंहका बच्चा। मनाक् = थोड़ा भी। गर्जितम् आकर्ण्य = गरजना सुनकर। द्राक् = शीघ्र ही। उत्पतितुं = उछलनेके लिये। मातुः अङ्के = माँकी गोदमें। अतिभृशं = वारवार। अङ्गानि = (अपने) अङ्गोंको। आकुञ्च्य = समेटकर। लीयते = लीन जैसा हो रहा है।

टीका—निशायाः = रात्रेः अर्धं = यामद्वयं तत्परिमितं जातं =

जात्युपलक्षितं वयः (जातिर्जातं च सामान्यम् , इत्यमरप्रमाणात्) यस्य सः । एवंभूतोऽपि । हरेः = सिंहस्य शिशुः = बालः । सिंहशावक इत्यर्थः । मनाक् = ईषत् अपि (किंचिदीषन्मनागल्पे—अमरः) । गर्जितं = मेघध्वनितं (स्तनितं गर्जितं मेघनिर्घोषे—अमरः) आकर्ण्य = श्रुत्वा । द्राक् = शीघ्रम् । उत्पतितुम् = उत्फालयितुं । मातुः = जनन्याः । अङ्के = क्रोडे । अङ्गानि = अवयवान् । अतिभृशम् = अत्यन्तं । आकुञ्च्य = संकोचयित्वा । लीयते = लीनो भवति ।

कृतौ पण्डितराजस्य श्रीजनार्दनशास्त्रिणा ।
कृता प्रास्ताविके पूर्णा, टीकेयं "सुषमा" भिधा ॥

भावार्थ—अभी कल अर्द्धरात्रिमें ही उत्पन्न हुआ सिंहशावक थोड़ी भी मेघगर्जनाको सुनकर, ऊपर उछलनेके लिये, माँकी गोदमें अपने अङ्गोंको इस प्रकार सिकोड़ता है कि छिप जैसा गया है ।

टिप्पणी—"तेजस्वी व्यक्ति जन्मसे ही दूसरेके उत्कर्षको सहन नहीं करता" यह इस श्लोकका भाव है । निशार्धजातःका अर्थ है पिछली आधीरातको ही जो पैदा हुआ है अर्थात् जिसकी अवस्था अभी केवल आधे ही दिनकी हुई है । एक दिन (२४ घंटा) भी जिसे पैदा हुए न हुआ, वह सिंह-शावक बादलोंकी गर्जना सुनकर उनपर आक्रमण करनेके लिये उछलनेकी चेष्टा कर रहा है । मातुः अङ्के लीयते का तात्पर्य है कि जब वह उछलनेकी चेष्टा करनेमें अपने शरीरको सिकोड़ता है तो अत्यन्त छोटा होनेसे माँकी देहसे चिपका हुआ अलग प्रतीत ही नहीं होता । इसी पद्यके भावको ५८,५९ श्लोकोंमें भी कह आये हैं । यहाँ सिंह-शिशुके स्वभावका यथावत् वर्णन होनेसे स्वभावोक्ति अलंकार है । लक्षण—स्वभावोक्तिस्तु डिम्भादेः स्वक्रियारूपवर्णनम् (काव्यप्रकाश) । गीति छन्द है ॥ १०१ ॥

—:०:—

[पंडितराजके प्रास्ताविक विलासमें १०१ ही श्लोक हैं (देखिये भूमिका)। किन्तु कुछ प्रतियोंमें जो अधिक श्लोक संगृहीत किये गये हैं, वे भी पाठकोंकी जानकारीके लिये सामान्य अर्थके साथ नीचे दिये जा रहे हैं—]

किमहं वदामि खल दिव्यतमं गुणपक्षपातमभितो भवतः।
गुणशालिनो निखिलसाधुजनान् यदहर्निशं न खलु विस्मरसि ॥१॥

अर्थ—हे दुर्जन ! मैं तुम्हारे इस अत्यन्त सुन्दर गुणपक्षपातके विषयमें क्या कहूँ, जोकि सभी गुणवान् सज्जनोंको तुम रातदिन कभी भी नहीं भूलते।

टिप्पणी—खल निरन्तर सज्जनोंका अनिष्ट ही सोचा करते हैं। इसलिये रातदिन उनके ध्यानमें वे गुणीजन रहते हैं जिनकी बुराई करनी है। गुणपक्षपात (गुणोंका पक्ष लेना) का गुणपक्षका पात (अर्थात् गुणवानोंके पक्षका विरोध) यह व्यंग्य अर्थ है। यह व्याजनिन्दा अलंकार है।

रे खल तव खलु चरितं विदुषामग्रे विविच्य वक्ष्यामि।
अथवालं पापात्मन् कृतया कथयापि ते हतया ॥२॥

अर्थ—अरे दुर्जन ! निश्चय ही तुम्हारे चरितको मैं विद्वानोंके समक्ष चित्रण करूँगा। अथवा अरे पापात्मा ! तुम्हारी इस नीच कथाका उल्लेख करना भी उचित नहीं।

टिप्पणी—विद्वानोंके समक्ष खलका चरित्र-चित्रण करनेका अभिप्राय था कि संभवतः वे तुम्हारे उद्धारका कोई मार्ग वतलाते, किन्तु तुम्हारे तो कर्म इतने दूषित हैं कि उन्हें मुखसे निकालना भी लज्जास्पद है। खल-चरित्रका वर्णन करना स्वीकार करके उसीका निषेध कर दिया है, अतः प्रतिषेध अलंकार है।

आनन्दमृगदावाग्निः शीलशाखिमदद्विपः ।
ज्ञानदीपमहावायुरयं खलसमागमः ॥३॥

अर्थ—आनन्दरूपमृगके लिये वनाग्नि, शील (सत्स्वभाव) रूप वृक्षके लिये उन्मत्त हाथी और ज्ञानरूप दीपकके लिए आँधीके समान यह खलोंकी सङ्गति है।

टिप्पणी—जैसे जंगलमें वनाग्नि लगनेपर मृग नष्ट हो जाते हैं, उन्मत्त हाथी वृक्षोंको तोड़ देता है और आँधी दीपकको बुझा देती है, ऐसे ही दुर्जनोंकी सङ्गति मनुष्यके आनन्द, शील और ज्ञानको नष्ट कर देती है। रूपक अलंकार है।

खलास्तु कुशलाः साधुहितप्रत्यूहकर्मणि ।
निपुणाः फणिनः प्राणानपहर्तुं निरागसाम् ॥४॥

अर्थ—सज्जनोंके हितमें विघ्न करनेमें दुर्जन बड़े ही कुशल होते हैं; क्योंकि सर्प भी तो निरपराध व्यक्तियोंके प्राण लेनेमें निपुण होते हैं।

टिप्पणी—यहाँ खल उपमेय है सर्प उपमान, दोनोंमें विनाशकारिता-रूप साधारण धर्मसे वस्तु-प्रतिवस्तु भाव प्रतीत होता है अतः प्रतिवस्तूपमा अलंकार है।

वदने विनिवेशिता भुजङ्गी पिशुनानां रसनामिषेण धात्रा ।
अनया कथमन्यथावलीढा नहि जीवन्ति जना मनागमन्त्राः ॥५॥

अर्थ—विधाताने पिशुन-जनोंके मुखमें रसना (जिह्वा) के रूपमें सर्पिणी बैठा दी है। नहीं तो इसके द्वारा किंचिन्मात्र भी स्पर्श किये गये, मंत्र न जाननेवाले लोग जीवित क्यों नहीं रह पाते।

टिप्पणी—सर्पिणी जिसे डस देती है यदि वह विषापहार मंत्र नहीं जानता तो निश्चय ही मर जायगा। ऐसे ही खल-जनोंकी जिह्वा जिसके विषयमें चलगई वह मंत्रज्ञ (नीतिज्ञ) नहीं है तो निश्चय ही नष्ट हो

जायगा। यह अपह्नुति अलंकार है; क्योंकि जिह्वाके जिह्वात्वधर्मका गोपन करके उसपर भुजंगीत्वका आरोप किया है।

कृतं त्वयोन्नतं कृत्यमर्जितं चामलं यशः।
यावज्जीवं सखे तुभ्यं दास्यामो विपुलाशिषः ॥६॥

अर्थ—तुमने बहुत बड़ा कार्य किया और स्वच्छ यश कमा लिया। हे मित्र ! हम जबतक जियेंगे तुम्हें खूब आशीर्वाद देंगे।

टिप्पणी—यह व्यङ्ग्योक्ति है किसी अपकारीके प्रति। इसका तात्पर्य है कि तुमने हमारा इतना बड़ा अपकार किया है जिससे तुम्हारी दुष्कीर्ति फैल चुकी है। हम जबतक जीवित रहेंगे तुम्हारे इस दुष्कृत्यको भूल नहीं सकते। तुलना०—

उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते सुजनता भवता प्रथिता परम्।
विदधदीदृशमेव सदा सखे सुखितमास्स्व ततः शरदां शतम् ॥

अविरत परकार्यकृतां सतां
मधुरिमातिशयेन वचोऽमृतम्।
अपि च मानसमम्बुनिधिर्यशो
विमलशारदपार्वणचन्द्रिका ॥७॥

अर्थ—निरन्तर परोपकार करनेवाले सज्जनोंकी वाणी मिठासमें अमृतको मात करती है और उनका मन समुद्र सा (अथाह गम्भीर) होता है। उनकी कीर्ति शरत्कालीन पूर्णिमाकी चाँदनीकी भाँति फैलती है।

निर्गुणः शोभते नैव विपुलाडम्बरोऽपि ना।
आपातरम्यपुष्पश्रीशोभितः शाल्मलिर्यथा ॥८॥

अर्थ—अत्यन्त आडम्बर करनेसे भी गुणहीन मनुष्य शोभा नहीं पा सकता, जैसे सुन्दर लाल-लाल फूलोंसे भरपूर सजा हुआ सेमरका पेड़।

टिप्पणी—मनुष्यका वास्तविक भूषण तो गुण है। यदि गुण ही नहीं तो वेशभूषा आदिसे कबतक आडम्बर बन सकेगा। जैसे सेमरका पेड़ जब फूलोंसे लदा रहेगा तब कुछ अच्छा तो अवश्य लगेगा पर फल-हीन होनेसे उसका उपयोग ही क्या होगा? कोई उसके पास जायेगा ही नहीं। पूर्णोपमा अलंकार है।

पङ्कैर्विना सरो भाति सदः खलजनैर्विना।
कटुवर्णैर्विना काव्यं मानसं विषयैर्विना ॥९॥

अर्थ—तालाब तभी अच्छा लगता है जब उसमें पङ्क (कीचड़-सेवाल आदि) न हो, सभा तभी अच्छी है जब उसमें दुर्जन न हों, काव्य वही अच्छा है जो कठोर वर्णोंसे रहित हो और मन तभी शोभित होता है जब विषयोंपर आसक्ति न हो।

तत्त्वं किमपि काव्यानां जानाति विरलो भुवि।
मार्मिकः को मरन्दानामन्तरेण मधुव्रतम् ॥१०॥

अर्थ—काव्यके किसी मार्मिक तत्त्वको संसारमें विरला ही व्यक्ति समझता है। भौंरेको छोड़कर दूसरा कौन मकरन्द (पुष्पपराग) के मर्मको समझ सकता है?

सरजस्कां पाण्डुवर्णां कण्टकप्रकरान्विताम्।
केतकीं सेवसे हन्त कथं रोलम्ब निस्त्रप ॥११॥

अर्थ—हे निर्लज्ज भ्रमर! सरजस्का (रजः = धूलि-परागसे युक्त), पाण्डुवर्णा (पीली-पीली) और काँटोंसे घिरी केतकीका सेवन कैसे करते हो?

टिप्पणी—इस अप्रस्तुत भ्रमरके वृत्तान्तसे प्रस्तुत किसी ऐसे कामी पुरुषकी प्रतीति होती है जो रजस्वला स्त्रीपर आसक्त है। इस पक्षमें सरजस्काका अर्थ है ऋतुमती, पाण्डुवर्णा = फीके चेहरेवाली और कंटक-प्रकरान्विताम् = रोमांचित।

यथा तानं विना रागो यथा मानं विना नृपः ।
यथा दानं विना हस्ती तथा ज्ञानं विना यतिः ॥१२॥

अर्थ—जैसे तान (सुर) के विना राग अच्छा नहीं होता, जैसे मान (आदर) के विना राजा और दान (मदजल) के विना हाथी शोभित नहीं होता, वैसे ही ज्ञानके विना यति (संन्यासी) भी शोभित नहीं होता ।

सन्तः स्वतः प्रकाशन्ते गुणा न परतो नृणाम् ।
आमोदो न हि कस्तूर्याः शपथेन विभाव्यते ॥१३॥

अर्थ—मनुष्यमें यदि गुण होते हैं तो वे स्वयं ही प्रकाशित हो जाते हैं, उनके प्रकाशके लिये किसी दूसरेकी आवश्यकता नहीं होती । सौगंध खानेसे कस्तूरीकी सुगन्ध नहीं प्रतीत होती ।

टिप्पणी—तात्पर्य यह है कि हम लाख शपथ खाकर कहें यह कस्तूरी ही है, पर कोई विश्वास न करेगा यदि उसमें सुगन्ध न हो, ऐसे ही मनुष्यमें गुण हों तो स्वयं ही उसकी ख्याति हो जायगी, यदि गुण नहीं हैं तो लाख प्रयत्न करनेपर भी कुछ नहीं होगा ।

अयि वत गुरुगर्वं मा स्म कस्तूरि यासी-
रखिलपरिमलानां मौलिना सौरभेण ।
गिरिगहनगुहायां लीनमत्यन्तदीनं
स्वजनकममुनैव प्राणहीनं करोषि ॥१४॥

अर्थ—हे कस्तूरी ! सम्पूर्ण सुगन्धोंमें श्रेष्ठ अपनी सुगन्धका वहुत वड़ा घमण्ड न करना । इस सुगन्धके कारण ही तुमने पहाड़की अंधेरी गुफाओंमें छिपे हुए, अत्यन्त सीधे-सादे वेचारे अपने पिता (कस्तूरोमृग) को मरवा डाला ।

दूरीकरोति कुमतिं विमलीकरोति
चेतश्चिरन्तनमघं चुलुकीकरोति ।
भूतेषु किं च करुणां बहुलीकरोति
सङ्गः सतां किमु न मङ्गलमातनोति ॥१५॥

अर्थ—सज्जनोंका सङ्ग दुर्बुद्धिको दूर करता है, चित्त को निर्मल करता है, चिरन्तन (जन्मजन्मान्तरोंसे संचित) पापोंको नष्ट कर देता है और प्राणियोंमें दयाको बढ़ाता है । इस प्रकार यह सत्सङ्ग कौन सा कल्याण नहीं कर देता ।

अनवरतपरोपकारव्यग्रीभवदमलचेतसां महताम् ।
आपातकाटवानि स्फुरन्ति वचनानि भेषजानीव ॥१६॥

अर्थ— निरन्तर दूसरोंके उपकारकी चिन्तासे व्यग्र हो रहा है स्वच्छ अन्तःकरण जिनका. ऐसे सत्पुरुषोंके वचन, (आपातकाटवानि) प्रारम्भ में कड़वे भले ही हों किन्तु औषधिकी तरह प्रभावकारी होते हैं ।

टिप्पणी—औषध भी पीते समय कड़वी लगती है किन्तु उसका परिणाम अत्यन्त सुखद होता है । ऐसे ही परोपकारी सज्जनोंके वचन कठोर भी हों तब भी कल्याणकारक ही होते हैं । यह उपमा अलंकार है और आर्या छन्द है ।

व्यागुञ्जन्मधुकरपुञ्जमञ्जुगीता-
न्याकर्ण्य स्तुतिमुदयन्नयातिरेकात् ।
आभूमीतलनतकन्धराणि मन्ये-
ऽरण्येऽस्मिन् अवनिरुहां कुटुम्बकानि ॥१७॥

अर्थ—मैं समझता हूँ कि इस वनमें वृक्षोंके समूह, मधुर-मधुर गूँजते हुए भौंरोंके झुण्डोंसे गाई हुई स्तुतिको सुनकर, हृदयमें उगते हुए

विनयके भारसे पृथ्वीतल तक झुक गई हैं शाखाएँ जिनकी, ऐसे हो गये हैं।

टिप्पणी—सज्जन व्यक्ति यदि अपनी स्तुति (प्रशंसा) सुनता है तो नम्र हो जाता है और दुर्जनकी जितनी ही प्रशंसा की जाय वह उतना ही अकड़ता है। वृक्ष सज्जन हैं अतः वे अपनी प्रशंसा सुनकर झुक रहे हैं। यहाँ फल-फूलोंके भारसे झुके हुए वृक्षोंमें भौंरोंकी स्तुति सुनकर झुके हैं ऐसी संभावना की गई है अतः उत्प्रेक्षा अलंकार है। प्रहर्षिणी छन्द है।

मृतस्य लिप्सा कृपणस्य दित्सा विमार्गगायाश्च रुचिः स्वकान्ते।
सर्पस्य शान्तिः कुटिलस्य मैत्री विधातृसृष्टौ नहि दृष्टपूर्वा ॥१८॥

अर्थ—मरे हुए व्यक्तिको किसी प्रकारकी चाह, कंजूसको दान करनेकी इच्छा, व्यभिचारिणी स्त्रीको पतिपर स्नेह, सर्पको शान्ति और दुर्जनकी मित्रता विधाताकी सृष्टिमें तो आजतक नहीं देखी गई।

टिप्पणी—तात्पर्य यह है कि दुर्जनसे मित्रता वैसे ही असम्भव है जैसे मुर्देका कुछ चाहना आदि। 'नहि दृष्टपूर्वा' यह एक क्रिया सब अर्थोंको समान रूपसे प्रकाशित करती है अतः दीपक अलंकार है। उपेन्द्रवज्रा छन्द है।

उत्तमानामपि स्त्रीणां विश्वासो नैव विद्यते।
राजप्रियाः कैरविण्यो रमन्ते मधुपैः सह ॥१९॥

अर्थ—उत्तम स्त्रियोंका भी विश्वास नहीं किया जा सकता। राजप्रिया (चन्द्रमाकी प्रिया) कुमुदिनियाँ भौंरोंके साथ विहार कर रही हैं।

टिप्पणी—चन्द्रमा द्विजराज कहा जाता है। कुमुदिनी चन्द्रोदय होनेपर ही खिलती है अतः चन्द्रप्रिया कहलाती है। यहाँ राजप्रिया कहनेसे उसकी उत्तमता व्यक्त की है। वह राजदारा होकर भी काले-कलूटे

और चञ्चल भौंरेसे विहार कर रही है, यह ध्वनि निकलती है। अर्थान्तर-न्यास अलंकार है। अनुष्टुप् छन्द॥

अयाचितः सुखं दत्ते याचितश्च न यच्छति।
सर्वस्वं चापि हरते विधिरुच्छृङ्खलो नृणाम्॥२०॥

अर्थ—यह उच्छृङ्खल विधाता (मनमानी करनेवाला भाग्य या ब्रह्मा) मनुष्योंको विना माँगे कभी सुख दे देता है और कभी माँगनेपर भी नहीं देता, कभी उनका सर्वस्व भी हरण कर लेता है।

खण्डितानेत्रकञ्जालिमञ्जुरञ्जनपण्डिताः।
मण्डिताखिलदिक्प्रान्ताश्चण्डांशोः पान्तु भानवः॥२१॥

अर्थ—खण्डिता नायिकाओंके नेत्रकमलोंकी पंक्तियोंको अत्यन्त प्रसन्न करनेमें कुशल और जिन्होंने सम्पूर्ण दिशाओंके छोरोंको प्रकाशित कर दिया है ऐसी, तीक्ष्ण किरणोंवाले (सूर्य) की किरणें (तुम्हारी) रक्षा करें।

टिप्पणी—यह सामान्य आशीर्वादात्मक श्लोक है। खण्डिता वह नायिका है जिसका पति रातभर किसी अन्य नायिकाके साथ रहकर प्रातःकाल उसके पास आता है। रातभर पतिकी प्रतीक्षा करती हुई उस नायिकाकी नेत्रकमलपंक्तिको सूर्योदय होते ही पतिके आ जानेपर प्रसन्नता हुई। इस प्रसन्नताका श्रेय जिन सूर्यकिरणोंको है वे तुम्हारी रक्षा करें, यह भाव है।

प्रास्ताविके विलासेऽत्र श्रीजनार्दनशास्त्रिणा।
भाषाटीका "कुमुदिनी" कृतेयं पूर्णतामगात्॥

—:०:—

श्लोकानुक्रमणी

हमारी अन्य संस्कृत पुस्तकें

प्रारम्भिक रचनानुवाद कौमुदी—डॉ० कपिलदेव द्विवेदी

रचनानुवाद कौमुदी—डॉ० कपिलदेव द्विवेदी

प्रौढ़ रचनानुवाद कौमुदी—डॉ० कपिलदेव द्विवेदी

संस्कृत व्याकरण—डॉ० कपिलदेव द्विवेदी

संस्कृत शिक्षा, भाग १—डॉ० कपिलदेव द्विवेदी

संस्कृत शिक्षा, भाग २—डॉ० कपिलदेव द्विवेदी

संस्कृत शिक्षा, भाग ३—डॉ० कपिलदेव द्विवेदी

चन्द्रालोक सुधा (पंचम मयूख)—श्री विश्वम्भरनाथ त्रिपाठी

वेदचयनम्—श्री विश्वम्भरनाथ त्रिपाठी

कादम्बरी : महाश्वेतावृत्तान्त—डॉ० देवर्षि सनाढ्य तथा
श्री विश्वम्भरनाथ त्रिपाठी

लघुसिद्धान्त कौमुदी (संज्ञा, सन्धि और सुबन्त प्रकरण)
—श्री गौरीशंकर सिंह

भोज प्रबन्ध (संक्षिप्त)—डॉ० देवर्षि सनाढ्य

नलोपाख्यान—डॉ० देवर्षि सनाढ्य

विश्वविद्यालय प्रकाशन

वाराणसी